खंड IV
आर्थिक प्रक्रियाएँ

समय रेखा

कृषि उत्पादन

कृषि का विस्तार

कृषि के साधन

सिंचाई

खाद्यान्न और नकदी फसलें

उत्पादकता और उपज

कृषि संबंध

मुगल कालीन भारत

दक्खन

दक्षिण भारत

विनिमय अर्थव्यवस्था

मुगल मुद्रा प्रणाली

मुगल टकसालें

कीमतें एवं वेतन

नगरीय परिदृश्य

नगरीय जनसंख्या

नगरीय जीवन

फतेहपुर सीकरी के निर्माण का निरीक्षण करते हुए अकबर, *अकबरनामा,* 1603-1605

चित्रकार : बालचंद

फोटोग्राफ स्रोत : Chester Beatty Library

स्रोत : https://commons.wikimedia.org/wiki File:Balchand. _Akbar_ inspecting_ construction_ for_ his_ new_capital_Fatehpur_Sikri,_Akbarnama,_1603-5,_Chester_Beatty_Library.jpg

इकाई 14 कृषि अर्थव्यवस्था तथा कृषि संबंध*

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 कृषि का विस्तार

14.3 कृषि और सिंचाई के साधन

- 14.3.1 कृषि के साधन और तरीके
- 14.3.2 सिंचाई के साधन

14.4 कृषि उत्पाद

- 14.4.1 खाद्यान्न फसलें
- 14.4.2 नकदी फसलें
- 14.4.3 फल, सब्जी और मसाले
- 14.4.4 उत्पादकता और उपज

14.5 पशु और पशुधन

14.6 कृषि संबंधः मुगलकालीन

- 14.6.1 राजस्व अधिन्यासी और राजस्व मुक्त भू-अनुदान प्राप्तकर्ता
- 14.6.2 *ज़मींदार*
- 14.6.3 अन्य मध्यस्थ वर्ग
- 14.6.4 कृषक वर्ग
- 14.6.5 ग्रामीण समुदाय
- 14.6.6 कृषक वर्गों के अन्तर्सम्बन्ध

14.7 कृषि संबंधः दक्खन

- 14.7.1 मध्यकालीन दक्खनी गाँवों की संरचना
- 14.7.2 भू-स्वामित्व
- 14.7.3 भूमि संबंधी अधिकारों के प्रकार
- 14.7.4 ग्रामीण समुदाय
- 14.7.5 *वतन* व्यवस्था

14.8 कृषि संरचनाः दक्षिण भारत

- 14.8.1 ग्राम संरचना और कृषि संबंध
- 14.8.2 भू-अधिकारों की प्रकृति

* प्रो. सुनीता ज़ैदी, इतिहास तथा संस्कृति विभाग, जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली; प्रो. ए. आर. खान, और डॉ. संगीता पांडे, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

यह इकाई हमारे पूर्ववर्ती पाठ्यक्रम ई.एच.आई.-04: *भारतः सोलहवीं से अठारहवीं शतब्दी के मध्य तक,* खंड 5, इकाई 17 और 19 तथा खंड 6, इकाई 21 से ली गई है।

14.9 सारांश

14.10 शब्दावली

14.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

14.12 संदर्भ ग्रंथ

14.13 शैक्षणिक वीडियो

14.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम मुगलों, दक्खन तथा दक्षिण भारत की कृषि अर्थव्यवस्था के बारे में चर्चा करेंगे। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्नलिखित की जानकारी प्राप्त कर सकेंगेः

- मुगल काल में कृषि के प्रसार,
- मुगल काल में कृषि और सिंचाई के साधनों और तरीकों,
- मुगल काल में उपजाई जाने वाली प्रमुख फसलों,
- मुगल काल में पशुधन तथा पशु पालन की स्थिति,
- भू-उत्पादन में हिस्सा पाने वाले विभिन्न कृषक वर्गों,
- *ज़मींदार* और उनके अधिकारों,
- विभिन्न प्रकार की कृषक श्रेणियों और ग्रामीण समुदाय,
- अधिशेष उत्पादन में हिस्सा पाने वाले अन्य बिचौलियों,
- विभिन्न कृषक वर्गों के आपसी सम्बन्धों,
- मध्यकालीन दक्खनी गाँवों की मूलभूत विशेषताओं,
- दक्खन में भू-स्वामित्व संबंधी बहस,
- वहाँ मौजूद भूमि संबंधी अधिकारों के प्रकारों,
- ग्रामीण समुदाय की प्रकृति,
- कृषि समाज के विभिन्न वर्गों के आपसी संबंधों,
- दक्षिण भारत की कृषि संरचना, और
- दक्षिण भारत में भूमि संबंधी अधिकारों की प्रकृति।

14.1 प्रस्तावना

भारत के विस्तृत भू-भाग में विभिन्न प्रकार के भौगोलिक क्षेत्र हैं। इसके पूरे इतिहास में कृषि सर्वप्रमुख उत्पादक गतिविधि रही है। मुगल काल में भी भू-भाग के विस्तृत क्षेत्रों में खेती की जाती थी। इस काल के भारतीय और विदेशी लेखकों द्वारा भारतीय मिट्टी की उर्वरता की प्रशंसा की गई है।

इस इकाई में हम कृषि के विभिन्न आयामों के साथ-साथ कृषि के विस्तार अर्थात जोती जाने वाली भूमि पर भी विचार करेंगे। भारत में कई प्रकार की खाद्यान्न फसलें, फल, सब्जी और **नगदी फसलें** उपजाई जाती थीं। हमारे लिए इन सभी पर विचार कर पाना संभव नहीं होगा अतः हम कुछ प्रमुख फसलों का ही उल्लेख करेंगे। खेती के तरीके के साथ-साथ खेती में काम आने वाले औजारों और सिंचाई तकनीक की भी चर्चा करेंगे। यहाँ हम मुगल नियंत्रण में पड़ने वाले क्षेत्रों पर ध्यान केन्द्रित करने के साथ-साथ इसके नियंत्रण के बाहर आने वाले क्षेत्रों की भी चर्चा करेंगे।

कृषि अधिशेष का बड़ा हिस्सा भू-राजस्व के रूप में वसूल लिया जाता था। जैसा कि **इकाई 13** में

चर्चा की जा चुकी है सैद्धांतिक रूप में सम्राट भू-राजस्व का एकमात्र दावेदार माना जाता था। हालांकि व्यवहार में राज्य और इसके प्रतिनिधियों के अलावा अनेक प्रकार के बिचौलिए कई तरीकों से बड़ी राशि पर अधिकार जमा लेते थे। इस इकाई में हम भूमि और उसके उत्पादन पर विभिन्न वर्गों के अधिकारों पर विचार-विमर्श करेंगे। इन वर्गों के अंतर्संबंधों की भी चर्चा की जाएगी।

इस इकाई में हम मध्यकालीन दक्खन और दक्षिण भारत में कृषि संरचना की प्रकृति और वहाँ मौजूद विभिन्न प्रकार के भूमि अधिकारों पर विचार करेंगे। हम मध्यकालीन दक्खन की कृषि संरचना की विशेषताओं पर बातचीत भी करेंगे।

कृषि संरचना और भूमि अधिकारों के अध्ययन का अर्थ किसी व्यक्ति द्वारा अपनी जमीन के उपयोग करने तथा बेचने के अधिकार का वर्णन करना है। यह अधिकार भूमिधारियों को आर्थिक प्रशासनिक तथा न्यायिक अधिकार प्रदान करता था। भूमि संबंधी अधिकार लघु कृषि समाजों के या ग्रामीण समुदायों के जीवन को नियंत्रित करते हैं। वे भूमिधारियों के ग्रामीण समुदाय के अन्य सदस्यों, भूमि पर सर्वोच्च अधिकार का दावा करने वाले व्यक्तियों, राजा और उसके राजस्व वसूल करने वाले पदाधिकारियों, आदि के साथ संबंधों को नियंत्रित करते हैं। भूमि अधिकारों की विभिन्न कोटियों का उदय, चाहे वे हस्तांतरणीय हों या अनुवांशिक हों, भूमि के आर्थिक लाभों के कारण हुआ है जो मध्यकालीन युग में अधिकांश लोगों की आय का मुख्य माध्यम था।

14.2 कृषि का विस्तार

विस्तृत आँकड़ों के अभाव में जोती जाने वाली कुल भूमि का ठीक-ठीक अनुमान लगाना कठिन है। फिर भी उपलब्ध आँकड़ों की सहायता से मुगल काल में खेती की जाने वाली भूमि का एक अंदाज लगाया जा सकता है।

अबुल फज़ल ने अपनी कृति *आईन-ए अकबरी* में बंगाल, थट्टा और कश्मीर को छोड़कर उत्तर भारत के सभी मुगल प्रांतों से संबद्ध क्षेत्रीय माप के आँकड़े प्रस्तुत किए हैं। दिल्ली, आगरा, अवध, लाहौर, मुल्तान, इलाहाबाद और अजमेर जैसे अधिकांश प्रांतों के मामले में प्रत्येक *परगना* (कुछ अपवादों को छोड़कर) के लिए अलग से आँकड़े उपलब्ध हैं।

आईन-ए अकबरी में दिए गए आँकड़े 1595 के आसपास के हैं। 1686 की लेखा संबंधी एक नियम पुस्तिका में 17वीं शताब्दी के विभिन्न प्रांतों के क्षेत्र संबंधी आँकड़े उपलब्ध हैं। *चहार गुलशन* (1739-1740) नामक ऐतिहासिक कृति में भी ये आँकड़े पुनः प्रस्तुत किए गए हैं। इस नियम-पुस्तिका में प्रत्येक प्रांत के मापित क्षेत्र के आँकड़े दिए गए हैं। प्रत्येक प्रांत में गाँवों की कुल संख्या दी गई है। इसमें मापित और गैर-मापित गाँवों की संख्या भी उपलब्ध है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है *आईन-ए अकबरी* में अधिकांश मामलों में प्रत्येक *परगना* का क्षेत्र संबंधी आँकड़ा दिया गया है परन्तु यह कहना मुश्किल है कि *परगना* के कितने क्षेत्र को वास्तविक रूप में मापा गया था। औरंगजेब के शासनकाल से मिले आँकड़ों से तस्वीर ज्यादा स्पष्ट रूप में उभरती है। इनसे पता चलता है कि 1686 तक लगभग पचास प्रतिशत गाँवों को मापा नहीं गया था।

औरंगजेब के शासनकाल के उपलब्ध आँकड़ों को देखने से पता चलता है कि इस काल में *आईन* (1595) की तुलना में मापित इलाके का फैलाव बढ़ा था। परन्तु यह कहना मुश्किल है कि मापी गयी भूमि में यह बढ़ोतरी खेती के विस्तार के कारण हुई थी। ऐसा भी हो सकता है कि पहले आँकड़ों में कुछ खेती होने वाली भूमि की माप शामिल नहीं थी और बाद में इस भूमि को माप कर आँकड़ों में शामिल कर लिया गया हो।

विद्वानों के बीच यह विवाद का विषय है कि इन माप संबंधी आँकड़ों से वस्तुतः क्या परिलक्षित होता है। इनसे उठने वाले कुछ प्रश्न हैं: क्या इन आँकड़ों से वास्तविक रूप से जोती गई भूमि का पता चलता है, या कुल खेती योग्य भूमि या कुल मापे गये क्षेत्र का बोध होता है। डब्ल्यू. एच. मोरलैंड का मानना था कि ये आँकड़े उस क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसमें फसल बोई जाती थी।

इरफान हबीब का मानना है कि इसमें कृषि योग्य ऐसी भूमि जिसमें कुछ बोया नहीं गया हो तथा रिहाइशी इलाके, झील, तालाब, जंगल के कुछ भागों, आदि को भी शामिल किया गया होगा। शीरीन

मूसवी, इरफान हबीब के मत का समर्थन करती हैं और गणना करके बताती हैं कि मापे गये इलाके में दस प्रतिशत खेती योग्य परती भूमि भी शामिल होती थी। लेकिन वे यह मानती हैं कि इस दस प्रतिशत को निकालने के बावजूद शेष क्षेत्र को कुल फसल क्षेत्र के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता है क्योंकि खेती की जाने वाली भूमि का काफी हिस्सा मापा नहीं जा सका था। उनका यह भी मानना है कि ***खरीफ*** और ***रबी*** फसलों की भूमि को कई बार अलग-अलग मापा जाता था और बाद में दोनों को जोड़कर मापा गया क्षेत्र अंकित किया जाता था। इस स्थिति में, खेती के प्रसार को जानने के लिए मुगल काल के केवल माप संबंधी आँकड़ों से बहुत मदद नहीं मिलती है। इरफान हबीब और शीरीन मूसवी ने कुछ राजस्व प्रपत्रों में उपलब्ध विस्तृत आँकड़ों, ***जमा*** (अनुमानित राजस्व) आँकड़ों और **दस्तूर दरों** (नगद राजस्व दरों) जैसे स्रोतों का भी सहारा लिया है। इन्होंने बीसवीं शताब्दी के आरंभ में वास्तविक जोती गई भूमि के आँकड़ों से इनकी तुलना की है।

उनके प्राक्कलन के अनुसार 16वीं शताब्दी से 20वीं शताब्दी के बीच खेती की गई भूमि का फैलाव लगभग दोगुना हो गया। बिहार, अवध और बंगाल के कुछ भागों में जंगलों को साफ करने से खेती योग्य भूमि में विस्तार हुआ। पंजाब और सिंध में नहर सिंचाई व्यवस्था के विकास होने से भी खेती का विस्तार हुआ।

14.3 कृषि और सिंचाई के साधन

मिट्टी की प्रकृति और फसलों की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए भारतीय किसान कई प्रकार के औजार और तकनीकों का सहारा लिया करते थे। इसी प्रकार, विभिन्न प्रांतों में सिंचाई के विभिन्न साधन उपलब्ध थे।

14.3.1 कृषि के साधन और तरीके

प्रमुख रूप से हल में दो बैलों को जोतकर खेत जोता था। हल लकड़ी का बना होता था जिसमें **लोहे का फाल** लगा होता था। यूरोप की तरह भारत में घोड़ों या बैल द्वारा खींचे जाने वाले पहियेदार हल और सांचा-पट्टे (mould board) का उपयोग नहीं होता था। भारत में क्षेत्रीय विभिन्नताओं के कारण हल के आकार और वजन में फर्क होता था। हल्के हल (इतने हल्के जिन्हें किसान अपने कंधों पर भी उठा सकता था) से लेकर काफी भारी हलों का उपयोग किया जाता था। कड़ी मिट्टी के लिए अधिकांशतः भारी हलों को प्रयोग होता था। हल्की मिट्टी वाले क्षेत्र में हल के फाल में लोहा नहीं लगाया जाता था क्योंकि लोहे की कीमत भी ज्यादा होती थी। कई समकालीन यूरोपीय यात्रियों ने यह देखकर आश्चर्य प्रकट किया है कि भारतीय हलों द्वारा केवल मिट्टी को उलट दिया जाता था और गहरी जोताई नहीं की जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि यह भारतीय महाद्वीप के अनुकूल था क्योंकि गहरी जोताई करने से मिट्टी की नमी कम होने का खतरा रहता था। इसके अलावा केवल ऊपरी सतह ही अधिक उपजाऊ होती थी।

मिट्टी के ढेलों को तोड़ने के लिए अलग तरीका अपनाया जाता था। इस कार्य के लिए *पटेला* कही जाने वाले लकड़ी के तख्ते का प्रयोग किया जाता था। हल की तरह इस चपटे तख्ते को भी दो बैलों की सहायता से खींचा जाता था। आमतौर पर वजन डालने के लिए इस पर एक आदमी खड़ा हो जाता था। खेत में *पटेला* को बैल खींचते थे।

बीजारोपण का काम आमतौर से बीजों को खेत में हाथ से छिटक कर किया जाता था। सोलहवीं शताब्दी में तटीय क्षेत्रों में बारबोसा धान रोपने के लिए एक प्रकार के बीज बरमे (seed drill) के उपयोग का विवरण देता है।

कृत्रिम तरीकों से मिट्टी की उर्वरता बढ़ाने के लिए विभिन्न तरीकों का प्रयोग किया जाता था। दक्षिण में बकरों और भेड़ के झुंडों का इस कार्य के लिए खूब उपयोग किया जाता था। आमतौर पर इन पशुओं के झुंड को रात भर के लिए खेत में छोड़ दिया जाता था जहाँ वे अपना मल त्याग करते थे और यह अच्छी खाद का काम करता था। यह माना जाता था कि अगर 1000 का झुंड एक *कनी* खेत (1-32 एकड़) में पाँच-छह दिन व्यतीत करे तो यह अगले छह-सात वर्षों के लिए खेत को उपजाऊ रखने के लिए उपयुक्त होता था (*कैम्ब्रिज इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया*, भाग 1: 231)। इसी प्रकार की प्रथा आमतौर पर उत्तर भारत में भी प्रचलित थी। तटीय प्रदेशों में मछली की खाद भी उपयोग में लायी जाती थी।

पूरे वर्ष भूमि का अधिकतम उपयोग करने के लिए फसलों को बदल-बदल कर उगाया जाता था। मिट्टी की उत्पादकता की दृष्टि से भी इसे अच्छा माना जाता था। परम्परागत अनुभव से किसान फसल को बदल-बदलकर बोने की सार्थकता से परिचित हो चुके थे। वे यह निर्णय किया करते थे कि अच्छे उत्पादन के लिए किस फसल के बाद कौन सी फसल लगाई जानी चाहिए।

फसल काटने के लिए अर्द्ध-वृत्ताकार हंसुए का उपयोग किया जाता था।

अनाज को अलग करने के लिए काटी गई फसल को जमीन पर फैला दिया जाता था। हमारे स्रोतों में इस फसल से दाना अलग करने के दो तरीकों का जिक्र मिलता है: पहले तरीके में फसल को डंडे से पीटा जाता था, दूसरे तरीके में फैली हुई फसल पर जानवरों को घुमाया जाता था। जानवरों के भार और चलने-फिरने से अनाज फसल की बाली से अलग हो जाता था।

अलग किया हुआ अनाज टोकरी में भर दिया जाता था और एक नियंत्रित गति के साथ उसे गिराया जाता था। हवा के प्रवाह से भूसा बिखर जाता था और अनाज ज़मीन पर गिर जाता था।

14.3.2 सिचांई के साधन

भारतीय कृषि बहुत हद तक वर्षा पर निर्भर करती थी। किसी क्षेत्र विशेष में फसलों को लगाने से पहले वर्षा के जल की उपलब्धता को मुख्य रूप से ध्यान में रखा जाता था। वर्षा जल के अतिरिक्त सिंचाई के कृत्रिम साधनों का भी उपयोग किया जाता था।

पूरे देश में कुएँ द्वारा सिंचाई की जाती थी। कुएँ से पानी को निकालने के लिए विभिन्न उपलब्ध तकनीकों का इस्तेमाल किया जाता था। यह तकनीक इस बात पर निर्भर करती थी कि कुआँ कितना गहरा है।

बी एच आई सी-107 की **इकाई 11** में पानी खींचने के कई तरीकों पर विचार किया गया है। यहाँ हम पानी खींचने के तरीकों का केवल संक्षेप में उल्लेख करने जा रहे हैं।

उत्तर भारत में कच्चे और पक्के दोनों प्रकार के कुएँ खोदे जाते थे। कच्चे कुएँ अधिक टिकाऊ नहीं होते थे और इनमें हर साल कुछ खुदाई करनी पड़ती थी।

पक्के कुएँ टिकाऊ होते थे और इन कुओं से पानी निकालने की तकनीक का आसानी से उपयोग किया जा सकता था। पक्के कुएँ की दीवारें उठी होती थीं और उनके ऊपर एक घेरा या चबूतरा बना होता था। कुओं की दीवारें बनाने के लिए पत्थर या ईंटों का प्रयोग होता था। इन कुओं के बनाने में पकी हुई मिट्टी के वृत्ताकार घेरों या छल्लों को एक के ऊपर एक कुएँ की गोलार्द्ध में बिठाया जाता था। इन्हें वृत्तीय कुएँ (ring wells) भी कहते थे।

इन कुओं से पानी खींचने के लिए अनेक तरीके अपनाए जाते थे:

i) रस्सी और बाल्टी के सहारे हाथों से पानी निकालना सबसे आसान तरीका था जिसमें किसी प्रकार के यंत्र की सहायता नहीं ली जाती थी। अपनी सीमित क्षमता के कारण इसका उपयोग बड़े खेतों की सिंचाई के लिए नहीं किया जा सकता था।

ii) दूसरे तरीके में कुओं के ऊपर धुरी लगा दी जाती थी। धुरी में रस्सी और बाल्टी को लगा दिया जाता था और पहले तरीके की तुलना में शक्ति का उपयोग कर अधिक पानी निकाला जा सकता था। इन दोनों तरीकों का उपयोग घरेलू आपूर्ति और बहुत छोटे खेतों की सिंचाई के लिए किया जाता था।

iii) एक तीसरे तरीके में रस्सी और धुरी के तरीके से पानी निकालने में बैलों का भी उपयोग किया जाता था। इस प्रणाली में पशु शक्ति का उपयोग करने से बड़े क्षेत्रों की सिंचाई संभव हो सकी।

iv) चौथी प्रणाली, *ढेंकली*, में उत्तोलक (लीवर) सिद्धांत का उपयोग किया जाता था। इस प्रणाली में एक लम्बे पेड़ के तने या बांस को एक पेड़ की दो शाखाओं के बीच इस प्रकार फंसा देते हैं कि वह झूले के समान हो जाता था। उसके अगले सिरे पर बाल्टी कसकर रस्सी से बाँध दी जाती थी और पिछले हिस्से में भारी पत्थर लटका दिया जाता था। पिछले हिस्से का वजन पानी भरी बाल्टी से अधिक होता था। इसे मात्र एक आदमी चला सकता था।

v) पाँचवीं प्रणाली में चक्के का उपयोग किया जाता था। आरंभ में चक्के के ऊपर घड़े लगा दिये जाते

थे जिसे जानवर की सहायता से घुमाया जाता था। इस प्रकार के चक्के से केवल छिछले स्तर से ही पानी निकाला जा सकता था और कुओं के लिए इसका कोई उपयोग नहीं था।

चक्के या पहिए के परिवर्तित रूप का उपयोग कुएँ से पानी निकालने के लिए भी किया जाता था। इसमें (*रहट;* Persian wheel) घड़ों की माला सी बनाई जाती थी और इसमें तीन चक्कों, गियर तकनीक और पशु शक्ति की सहायता ली जाती थी (विस्तृत विवरण के लिए **बी एच आई सी-107, इकाई 11** देखें)। इसकी सहायता से बड़े खेतों में काफी मात्रा में पानी पहुंचाया जा सकता था। इससे गहरे कुओं से भी पानी निकाला जा सकता था। जटिल यंत्र और पशु शक्ति के उपयोग के कारण यह तरीका खर्चीला रहा होगा। अतः इसका उपयोग सम्पन्न किसान ही किया करते होंगे।

पूरे देश में समान रुप से झीलों, तालाबों और जलाशयों का उपयोग होता था। दक्षिण भारत में यह अधिक लोकप्रिय प्रणाली थी। यहाँ नदियों के ऊपर बाँध बनाए गए। इन जलाशयों का निर्माण व्यक्तिगत उद्यम से नहीं हो सकता था। अतः इस प्रकार की सुविधाएँ उपलब्ध कराना राज्य, स्थानीय सरदारों और मंदिर प्रबंधन की जिम्मेदारी थी। विजयनगर शासकों द्वारा बनवाई गई विशाल मडग झील उस समय की नागरिक अभियांत्रिकी का उत्कृष्ट नमूना थी। इसे तुंगभद्रा नदी को तीन तरफ से घेरकर बनाया गया था। इसके लिए तीन पहाड़ियों के बीच तीन बाँध बनाए गए थे। भरी होने पर यह झील 10-15 मील लंबी थी। इन तीनों बाँधों में बड़े-बड़े पत्थरों से निर्मित जलद्वार बने हुए थे।

राजस्थान में भी पानी जमा करने के लिए जलाशयों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया जाता था। *आईन-ए अकबरी* के अनुसार मेवाड़ की धेबर झील 36 मील में फैली हुई थी। कहा जाता है उदयसागर 12 मील के क्षेत्र में फैला था; राजसमंद और जयसंमद 17वीं शताब्दी में मेवाड़ में बनी अन्य महत्वपूर्ण झीलें थीं। मारवाड़ और आमेर प्रांतों में बाँधों की सहायता से क्रमशः बालसमंद और मानसागर नामक जलाशयों का निर्माण किया गया।

लगभग सभी गाँवों में जलाशय और झील बनी होती थीं जहाँ वर्षा का पानी एकत्र किया जाता था। हमारे स्रोतों से पता चलता है कि 1650 के दशक में मुगल प्रशासन ने खानदेश और बरार में सिंचाई के लिए बाँध निर्माण करने हेतु किसानों को 40,000-50,000 रुपये तक अग्रिम राशि देने का प्रस्ताव रखा था। यह एक रोचक तथ्य है कि आज भी खानदेश में ऐसे छोटे बाँधों का उपयोग किया जाता है और ये इस क्षेत्र की मोसम, गिरना, केन, पंजबरा, शिवान नामक पाँच प्रमुख नदियों के बेसिन में विस्तृत हैं।

उत्तरी मैदानी भागों में नहरों का उपयोग सिंचाई के प्रमुख साधन के रूप में किया जाता था। हम **बी एच आई सी-107, उप-भाग 10.2.2** में चौदहवीं शताब्दी में सुल्तान फिरोज़ तुगलक द्वारा बनवाई गई नहरों के बारे में पढ़ चुके हैं। यह प्रवृत्ति मुगलों के काल में भी जारी रही। शाहजहाँ ने 150 मील लंबी फैज़ नहर बनवाई थी। इसके द्वारा यमुना का जल विस्तृत क्षेत्र में पहुंचाया जाता था। इसी प्रकार लाहौर के निकट रावी नदी से 100 मील लंबी नहर निकाली गई थी। पूरे सिंधु नदी के मुहाने में कई नहरों के अवशेष पाए जाते हैं। इरफान हबीब का मानना है कि मुगल नहरों में सबसे बड़ी कमी यह थी कि वे अक्सर आसपास के स्तर से ऊपर नहीं उठी होती थीं अतः उनसे की गई सिंचाई इस बात पर निर्भर करती थी कि उनसे कितना पानी निकाला जा सकता था। इस क्षेत्र में नहरों की संख्या लगातार बढ़ती रही। दक्षिण भारत में नहरों की जानकारी नहीं मिलती है।

बोध प्रश्न-1

1) मुगल कालीन भारत में कृषि उत्पादन का विस्तार कितना था?

.....

.....

.....

2) मिट्टी की उर्वरता बढ़ाने के लिए अपनाई गई तीन विधियों का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

3) खेतों की सिंचाई करने के लिए कुओं से पानी निकालने की तीन विधियों का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

4) सिंचाई के काम में आने वाली चार झीलों या बाँधों का नाम बताइए।

.....

.....

.....

14.4 कृषि उत्पाद

भारत के विस्तृत भू-भाग, विभिन्न प्रकार की मिट्टियों और पर्यावरणीय वातावरण के कारण यहाँ कई प्रकार के कृषि उत्पादों का उत्पादन होता है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम इन कृषि उत्पादों को तीन हिस्सों – खाद्यान्न फसल, नगदी फसल और फल, सब्जी और मसालों में बाँटकर चर्चा करेंगे।

14.4.1 खाद्यान्न फसलें

उत्तर भारत की अधिकांश मौसमी फसलें दो प्रमुख फसल ऋतुओं *खरीफ* (शरद) और *रबी* (बसंत) में उगाई जाती थीं। कुछ किसान इनके बीच लघु अवधि की फसलें उगाकर कभी-कभी तीन फसलें भी उपजा लिया करते थे। प्रमुख *खरीफ* फसल धान या चावल और प्रमुख *रबी* फसल गेहूँ थी। दक्षिण भारत में इस प्रकार का विभाजन नहीं था जिसमें अलग मौसमों में अलग फसल उपजाई जाती हो। यहाँ सिंचित भूमि पर धान (चावल) की एक फसल जून-जुलाई से दिसम्बर/जनवरी और दूसरी फसल जनवरी/फरवरी से अप्रैल/मई तक उगाई जाती थी। उत्तरी आर्कोट में भूमि पर मई से सितम्बर/अक्टूबर तक सूखी फसलें (*कुम्बु*, लाल चना, कुलथी [horse gram] और अरंडी) बोई जाती थीं और इन्हें अगस्त से दिसम्बर/जनवरी तक काटा जाता था, अगस्त/सितम्बर में *रागी* और *चोलम* तथा फरवरी/मार्च में धान की फसलें काटी जाती थीं (रेचौधरी एवं हबीब 1982, I: 229)।

गेहूँ और चावल पूरे देश की दो महत्वपूर्ण फसलें थी। अधिक वर्षा (40'' से 50'') वाले क्षेत्रों में धान का उत्पादन अधिक होता था। सम्पूर्ण उत्तर पूर्व, पूर्वी भारत (बिहार, बंगाल, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश का पूर्वी भाग), गुजरात का दक्षिणी तटीय प्रदेश और दक्षिण भारत प्रमुख धान उत्पादक क्षेत्र थे। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है दक्षिण भारत में चावल उत्पादन के *कुड्डापाह्-कर* और *सम्ब-पेशनम्* दो प्रमुख मौसम थे। इनका नामकरण गर्मी और जाड़े के मौसम में उपजाए जाने वाले मुख्य धान के प्रकार पर आधारित था।

पंजाब और दक्खन के सिंचित इलाकों से भी धान की खेती की जानकारी मिलती है। प्रत्येक क्षेत्र में अलग किस्म का मोटा, साधारण और उच्च कोटि का धान या चावल उपजाया जाता था। बंगाल और बिहार के क्षेत्रों में उच्चतम कोटि का चावल उपजाया जाता था।

चावल के समान गेहूँ के भी कुछ खास इलाके थे। पंजाब, सिंध, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और अन्य कम वर्षा वाले क्षेत्रों में गेहूँ उपजाया जाता था। बिहार, गुजरात, दक्खन और यहाँ तक कि बंगाल के कुछ भागों में भी इसके उत्पादन का हवाला मिलता है।

इन दोनों फसलों के अतिरिक्त मध्य मैदानी भागों में जौ का खूब उत्पादन होता था। *आईन-ए अकबरी* में इलाहाबाद, अवध, आगरा, अजमेर, दिल्ली, लाहौर और मुल्तान, आदि में जौ के उत्पादन का उल्लेख मिलता है।

कुछ अपवादों को छोड़कर गेहूँ वाले इलाकों में मोटा अनाज भी उपजाया जाता था। ज्वार और बाजरा दो प्रमुख मोटे अनाज की किस्में थीं।

विभिन्न प्रांतों में दालों के उगाए जाने की भी जानकारी मिलती है। इनमें चना, अरहर, मूँग, मोठ, उड़द और खीसाड़ी (अंतिम काफी मात्रा में बिहार और आधुनिक मध्यप्रदेश के इलाके में उपजाया जाता था)

की दालें प्रमुख है। हालांकि अबुल फजल बताता है कि खीसाड़ी का सेवन स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता था। आधुनिक शोध भी इसे प्रमाणित करते हैं।

काफी समय तक यह समझा जाता था कि 17वीं शताब्दी में भारत में मकई या मक्का का उत्पादन नहीं होता था। कुछ नए शोधों से यह साबित हो चुका है कि 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से राजस्थान और महाराष्ट्र में निश्चित रूप से और संभवतः अन्य प्रांतों में भी यह उपजाई जाती थी।

14.4.2 नगदी फसलें

मुख्य रूप से बाज़ार के लिए उपजाई जाने वाली फसलों को आमतौर पर नगदी फसल कहते थे। फारसी विवरणों में इन्हें *जिन्स-ए कामिल* या *जिन्स-ए आला* (सर्वोतम कोटि की फसल) कहा गया है। खाद्यान्न फसलों के विपरीत ये पूरे वर्ष खेतों में खड़ी रहती थीं। 16वीं-17वीं शताब्दी की नगदी फसलों में गन्ना, कपास, नील और अफीम प्रमुख थी।

ये सभी फसलें भारत में पुरातन काल से उपजाई जा रही थीं। लेकिन 17वीं शताब्दी में शिल्प उत्पादन और वाणिज्यिक गतिविधियों के बढ़ने के कारण उनकी माँग में वृद्धि हुई थी। इस काल में इन वस्तुओं के लिए एक विशाल विदेशी बाज़ार का द्वार भी खुल गया। भारतीय किसानों ने बाज़ार की माँग को तेजी से पहचाना और इन फसलों के उत्पादन में इज़ाफा कर दिया।

इस काल में नगदी फसलों में सबसे ज्यादा खेती गन्ने की, की जाती थी। *आईन-ए अकबरी* के अनुसार आगरा, अवध, लाहौर, मुल्तान और इलाहाबाद के अधिकांश राजस्व क्षेत्रों (**दस्तूर प्रखंडों**) में गन्ना उगाया जाता था। बंगाल में उगाया जाने वाला गन्ना सर्वोत्तम कोटि का माना जाता था। 17वीं शताब्दी के दौरान मुल्तान, मालवा, सिंध, खानदेश, बरार और दक्षिण भारत के क्षेत्रों में भी गन्ना उपजाया जाता था।

इसके अलावा एक और नगदी फसल, कपास, पूरे भारत में उपजाई जाती थी। आधुनिक महाराष्ट्र, गुजरात और बंगाल के इलाकों में उस समय वृहद् पैमाने पर कपास की खेती की जाती थी। समकालीन स्रोत अजमेर, इलाहाबाद, अवध, बिहार, मुल्तान, थट्टा (सिंध), लाहौर और दिल्ली में भी इसके उत्पादन का हवाला देते हैं।

मुगलों के शासनकाल में नील (एक नगदी फसल) का भी बृहद् पैमाने पर उत्पादन होता था। इस पौधे से नील निकलता था जिसकी माँग भारत के साथ-साथ यूरोपीय बाज़ारों में भी थी। अवध, इलाहाबाद, अजमेर, दिल्ली, आगरा, लाहौर, मुल्तान और सिंध के दस्तूर प्रखंडों में नील उगाए जाने की सूचना मिलती है। गुजरात, बिहार, बंगाल, मालवा और दक्षिण भारत में कोरोमंडल और दक्खन में इसके उत्पादन का हवाला मिलता है। बयाना और सरखेज के उत्पाद् की माँग सबसे ज्यादा थी। आगरा के निकट बयाना में उगाए जाने वाले नील को उत्तम कोटि का माना जाता था और इसका मूल्य भी ज्यादा होता था। इसके बाद अहमदाबाद के निकट सरखेज में उपजाये जाने वाले नील का स्थान आता था और यह भी ऊँचे दामों पर बिकता था। खुर्जा और अलीगढ़ (उत्तर प्रदेश), सेहवान (सिंध) और तेलंगाना (दक्खन) में भी उच्च कोटि के नील का उत्पादन होता था।

भारत के कई भागों में अफीम की खेती होने की भी सूचना मिलती है। मुगल प्रांतों, बिहार और मालवा में अच्छी कोटि की अफीम का उत्पादन होता था। यह अवध, बिहार, दिल्ली, आगरा, मुल्तान, लाहौर, बंगाल, गुजरात और राजस्थान में मारवाड़ और मेवाड़ में भी उगाया जाता था।

ऐसा प्रतीत होता है कि कम अवधि में ही भारत में तम्बाकू का उत्पादन बड़े पैमाने पर होने लगा। *आईन-ए अकबरी* में किसी भी दस्तूर प्रखंड या किसी अन्य क्षेत्र में इस फसल का उल्लेख नहीं किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि 16वीं शताब्दी में पुर्तगाली इसे अपने साथ भारत लाए। शीघ्र ही इसकी खेती देश के लगभग सभी भागों में होने लगी (खासकर सूरत और बिहार में)।

ऐसा प्रतीत होता है कि 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कॉफी का उत्पादन शुरू हो गया था परन्तु हमारे अध्ययन काल में चाय का उल्लेख नहीं मिलता है।

सन, रेशे वाला एक पौधा होता है जो मुगल साम्राज्य के मुख्य प्रांतों (अवध, इलाहाबाद, आगरा, लाहौर, अजमेर, आदि) में उपजाया जाता था।

बंगाल, असम, कश्मीर और पश्चिम तटीय प्रदेशों में रेशम का उत्पादन किया जाता था। हालांकि बंगाल मुख्य उत्पादन क्षेत्र था।

तिलहन खाद्यान्न के साथ-साथ नगदी फसल भी थी। इससे तेल निकाला जाता था। रेपसीड, अरंडी, अलसी प्रमुख तिलहन फसलें थीं। यह इलाहाबाद से लेकर मुल्तान और बंगाल सहित सभी प्रांतों में उपजाई जाती थी। तिलहन के अन्य प्रकारों को कम ही उपजाया जाता था।

14.4.3 फल, सब्ज़ी और मसाले

मुगल काल में बागवानी अपने चरम शिखर पर थी। मुगल सम्राटों और सामंतों ने भव्य फलोद्यान लगवाए थे। लगभग सभी प्रभावशाली कुलीनों के पास अपने शहर के बाहर एक बागान हुआ करता था। इन फलोद्यानों और निकुंजों को सावधानीपूर्वक योजनाबद्ध ढंग से निर्मित किया जाता था। आज भारत में उपलब्ध बहुत से फलों का आगमन 16वीं-17वीं शताब्दी में ही हुआ था। अनन्नास एक ऐसा ही फल है जो भारत में पुर्तगालियों द्वारा लैटिन अमेरिका से लाया गया था। कम समय में यह फल लोकप्रिय हो गया और पूरे भारत में बड़े पैमाने पर उगाया जाने लगा।

पपीता और काजू भी पुर्तगाली ही अपने साथ लेकर आए थे परन्तु इसका विस्तार धीमी गति से हुआ। लीची और अमरूद का आगमन बाद में हुआ। काबुल से चेरी लाई गई और कलम लगाकर इसे कश्मीर में उपजाया गया। कलम की तकनीक से कई फलों की किस्म में सुधार हुआ। कलम के द्वारा संतरा, तथा अन्य गलगल (नीबू फेमिली के फल), खूबानी, आम और अन्य कई फलों की किस्मों में सुधार लाया गया। नारियल केवल तटीय प्रदेशों में ही नहीं बल्कि अंदरूनी इलाकों में भी उगाया जाता था।

काबुल से खरबूजे/तरबूज़े और अंगूर के विभिन्न प्रकारों के बीज लाए गए और उन्हें सम्राटों और कुलीनों के बागीचों में सफलतापूर्वक उगाया गया। साधारण किस्म का खरबूजा/तरबूज़ किसानों द्वारा नदी के किनारे हर जगह उपजाया जाता था।

कई तरह की सब्जियाँ पूरे देश में उपजाई जाती थीं। उस समय उपयोग में आने वाली सब्जियों की लंबी सूची *आईन-ए अकबरी* में दी गयी है ऐसा प्रतीत होता है कि आलू और टमाटर का आगमन 17वीं शताब्दी और उसके बाद हुआ।

सदियों से भारत अपने मसालों के लिए जाना जाता था। भारत के दक्षिण तट से एशिया और यूरोप के विभिन्न देशों को बड़े पैमाने पर मसालों का निर्यात किया जाता था। काली मिर्च, लौंग, इलायची का खूब उत्पादन होता था। अदरख और हल्दी भी बड़े पैमाने पर उपजाई जाती थी। डच और अंग्रेज इसे बड़ी मात्रा में खरीदकर निर्यात करते थे। केसर कश्मीर में उगाया जाता था जो अपने रंग और सुगंध के लिए जाना जाता था। पान का उत्पादन कई इलाकों में होता था। बिहार का मगही पान और बंगाल में उपजाए जाने वाले अन्य प्रकार प्रसिद्ध थे। तटीय प्रदेशों में सुपारी का भी उत्पादन होता था।

विशाल वन सम्पदा से भी कई महत्वपूर्ण वाणिज्यिक वस्तुएँ प्राप्त होती थीं। लिग्नम (lignum) का उपयोग दवा बनाने के लिए होता था और लाख बड़ी मात्रा में निर्यातित होता था।

14.4.4 उत्पादकता और उपज

शीरीन मूसवी (1987, अध्याय 3) ने मुगल भारत में फसल की उत्पादकता और प्रति बीघा उपज पर प्रकाश डाला है । इस भाग में हम उनके शोधों के आधार पर ही आपको निम्न जानकारी दे रहे हैं। *आईन-ए अकबरी* में फसल उपज की तालिका और *ज़ब्ती* प्रांतों (लाहौर, मुल्तान, आगरा, इलाहाबाद, अवध और दिल्ली) की राजस्व दरों का उल्लेख किया गया है। उच्च, मध्यम और निम्न कोटि की फसलों की उपज का अलग से उल्लेख किया गया है। इनके आधार पर औसत उपज निकाली जा सकती है। हालांकि अबुल फज़ल इन तीनों कोटियों के आधार के बारे में हमें कुछ नहीं बताता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि कम उत्पादकता वाली फसल का संबंध गैर-सिंचित क्षेत्र से और शेष दोनों प्रकार की फसलों का संबंध सिंचित क्षेत्र से था।

शीरीन मूसवी ने 16वीं शताब्दी के प्राप्त आँकड़ों को आधार बनाकर कृषि उत्पादकता के क्षेत्र में रोशनी डाली है। उनके आकलन के अनुसार कुछ प्रधान फसलों की उपज (उच्च, मध्यम और निम्न उपज का औसत) इस प्रकार थीः

औसत फसल उपजः 1595-1596
(*मन-ए अकबरी* प्रति *बीघा-ए इलाही*)

फसल	उपज	फसल	उपज	फसल	उपज
गेहूँ	13.49	जौ	12.93	चना	9.71
बाजरा	5.02	ज्वार	7.57	कपास	5.75
गन्ना	11.75	सरसों	5.13	तिल	4.00

स्रोतः मूसवी, शीरीन (1987) *इकॉनॉमी ऑफ द मुगल एम्पायर c.1595, ए स्टैटिस्टिकल स्टडी* (नई दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस), पृ. 82

शीरीन मूसवी ने *आईन-ए अकबरी* में दी गयी उपज की तुलना 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के आसपास की उपज के साथ की है। उनका मानना है कि इन दो कालों के बीच खाद्यान्न फसलों की उत्पादकता में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ था। हालांकि जहाँ तक नगदी फसलों का संबंध है इसमें 19वीं शताब्दी के दौरान उत्पादकता में निश्चित रूप से वृद्धि हुई थी।

14.5 पशु और पशुधन

हमारे काल के कृषि उत्पादन में पशुओं की एक महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। हल जोतने और सिंचाई करने में उनसे सहायता ली जाती थी और उनके गोबर का उपयोग खाद के रूप में होता था। कृषि सम्बन्धी उत्पादन के अतिरिक्त दुग्ध उत्पादन में भी ये काफी योगदान देते थे। आमतौर पर किसान और कुछ खास जाति के लोग पशुपालन का कार्य करते थे।

कृषि कार्यों में बड़े पैमाने पर पशुओं के योगदान से पता चलता है कि पशुधन की संख्या भी काफी रही होगी। प्रति व्यक्ति भूमि के उच्च अनुपात के कारण चारागाह भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध रहा होगा। समकालीन यूरोपीय यात्री भारतीय खेतों में बड़ी संख्या में जानवरों की उपस्थिति का उल्लेख करते हैं। इरफान हबीब का मानना है कि आज की तुलना में मुगल भारत में प्रति व्यक्ति पशुओं की संख्या अधिक थी। कहा जाता है कि आम आदमी भी मक्खन और घी का उपयोग करता था, इससे भी बड़ी संख्या में पशुओं के होने का पता चलता है। बैलों का उपयोग बैलगाड़ी खींचने या भारवाही पशु के रूप में होता था। *बंजारों* (घुमंतु व्यापारी समुदाय) के पास सैंकड़ों-हज़ारों जानवर होने का उल्लेख मिलता है। भेड़ों और बकरियों को भी हज़ारों के झुंड में पाला जाता था।

बोध प्रश्न-2

1) छह मुख्य खाद्यान्न फसलों के नाम बताइएः

   1) ..... 2) ..... 3) .....

   4) ..... 5) ..... 6) .....

2) खाद्यान्न फसल, नगदी फसल और तिलहन फसल से आप क्या समझते हैं?

   .....

   .....

   .....

3) चार प्रमुख नगदी फसलों का उल्लेख कीजिएः

1) ..... 2) .....

3) ..... 4) .....

4) बाहर से भारत में लाए गए चार फलों के नाम बताइए?

1) ..... 2) .....

3) ..... 4) .....

14.6 कृषि संबंधः मुगल कालीन

इस भाग में हम मुगल काल में कृषि संबंधों पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे।

14.6.1 राजस्व अधिन्यासी और राजस्व मुक्त भू-अनुदान प्राप्तकर्ता

किसानों से भू-राजस्व वसूलने के लिए राज्य ने दो तरीके अपनाए। पहली व्यवस्था के तहत ***जागीरदारों*** को राजस्व इकट्ठा करने के लिए कुछ इलाके दे दिए गए। इस राजस्व को *जागीरदार* अपनी तनख्वाह के रूप में और सेना के रखरखाव के लिए उपयोग करते थे। दूसरी तरफ *खालिसा* भूमि का राजस्व शाही पदाधिकारी वसूल किया करते थे। *जागीरदारों* का अक्सर स्थानांतरण होता रहता था और आवंटित इलाके पर उनका कोई स्थाई अधिकार नहीं होता था। उसका अधिकार भू-राजस्व और अन्य करों तक ही सीमित था।

अनुदान प्राप्तकर्ता

एक तरफ *जागीरदारों* को उनके नगद वेतन के रूप में राजस्व अनुदान प्रदान किए जाते थे (विस्तृत अध्ययन के लिए देखें **इकाई 11**) दूसरी तरफ एक और समुदाय था जिसे जीवन यापन के लिए राजस्व अनुदान दिया जाता था। इस प्रकार का अनुदान राज्य के संरक्षण में रहने वाले धार्मिक व्यक्तियों, विद्वानों और साधन विहीनों को दिया जाता था।

इन अनुदानों को *सुयुरग़ाल* या *मदद-ए माश* (जीवन यापन के लिए सहायता) के नाम से जाना जाता था। इन अनुदानों की देखभाल *सद्र-उस सुदूर* के नेतृत्व में एक विभाग करता था। नगद सहायता को *वज़ीफा* कहा जाता था। *मदद-ए माश* अनुदान कुछ खास श्रेणी के लोगों को दिया जाता था। इस अनुदान को पाने वाले व्यक्ति का भूमि पर कोई अधिकार नहीं होता था। वह केवल नियत दर पर कुल उत्पादन में से राजस्व ले सकता था। अकबर ने इस प्रकार के अनुदान पर 100 *बीघा* प्रति व्यक्ति की सीमा निर्धारित कर रखी थी। अकबर ने कृषि को बढ़ावा देने के लिए आधी कृषि योग्य भूमि और आधी अनजुती या बंजर भूमि देने की प्रथा चलाई थी।

अनुदान प्राप्तकर्ता को पूरे जीवन के लिए अनुदान मिलता था और उसकी मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी अनुदान के नवीनीकरण के लिए आवेदन कर सकते थे। आमतौर पर उत्तराधिकारियों को अनुदान का एक अंश प्रदान किया जाता था। जहाँगीर ने अकबर द्वारा दिए गये सभी अनुदानों का अनुमोदन करके नवीनीकरण किया, परन्तु शाहजहाँ ने पूर्ववर्ती शासकों द्वारा प्रदत्त सभी अनुदानों का परीक्षण आरम्भ किया। उसने उत्तराधिकारियों को मिलने वाले अनुदान की सीमा 30 *बीघा* कर दी और औरंगजेब ने उसे घटाकर 20 *बीघा* कर दिया। अपने शासनकाल के तीसवें वर्ष में उसने सारे अनुदानों को अनुवांशिक कर दिया। इन अनुदानों को उसने एक प्रकार का ऋण (*अरियत*) माना न कि सम्पत्ति। उसके शासनकाल के उत्तरार्द्ध में और उसकी मृत्यु के बाद अनुदान प्राप्तकर्ता भूमि को खरीदने, बेचने या हस्तांतरित करने लगे। इस कारण धीरे-धीरे इन अनुदानों का अधिकार क्षेत्र *ज़मींदारी* अधिकारों के समकक्ष हो गया।

अकबर के शासनकाल में इस प्रकार के अनुदानों का राजस्व कुल *जमा* के 5.84 प्रतिशत से ऊपर नहीं होता था। इन अनुदानों की भौगोलिक अवस्थिति को देखने से पता चलता है कि ये अधिकांशतः ऊपरी गांगेय प्रदेशों (दिल्ली और इलाहाबाद क्षेत्र में अधिकतम) में केन्द्रित थे। ऐसा प्रतीत होता है कि मुहम्मद शाह के शासनकाल के आरंभिक वर्षों तक कुल राजस्व में भूमि अनुदानों का हिस्सा लगभग अपरिवर्तनीय रहा। इस भौगोलिक अवस्थिति से पता चलता है कि ये अनुदान मुख्यतः शहरी क्षेत्रों में

केन्द्रित थे। हमें इससे यह भी पता चलता है कि लगभग 70 प्रतिशत *सुयुरग़ाल* अनुदान उन *परगनों* में केन्द्रित थे जो गैर-मुसलमान *ज़मींदारों* के अधिकार में थे।

एक दूसरे प्रकार का अनुदान (*वक्फ*) संस्थानों, आदि को दिया जाता था। धार्मिक मकबरें, समाधियों, मदरसों, आदि के रख-रखाव के लिए कुछ भूमि का राजस्व स्थाई रूप से निश्चित कर दिया जाता था। इस प्रकार के अनुदान *जागीरदार* भी दे सकता था जो उस *जागीरदार* के उस इलाके में रहने तक कायम रहता था।

मदद-ए माश अनुदान की सहायता से प्रभाव-क्षेत्र कायम किया जाता था और इससे बंजर भूमि को विकसित करने में मदद मिलती थी। आमतौर पर इस प्रकार का अनुदान शेखों, सैय्यदों और अन्य विद्वानों को दिया जाता था। आपातकाल में स्थानीय उपद्रवों को दबाने के लिए वे सरकारी सेना की सहायता करते थे। ये अनुदान राजस्व का बहुत बड़ा हिस्सा नहीं थे। अनुदान प्राप्तकर्त्ता उस इलाके के और अन्य इलाकों के *ज़मींदारी* अधिकारों को प्राप्त करने का प्रयत्न लगातार करते रहते थे। अतः इनमें से कुछ छोटे *ज़मींदार* बन गये। 18वीं शताब्दी के आरंभ तक ये अनुदान सभी प्रकार के लेन-देन में *ज़मींदारी* भूमि के रूप में जाने, जाने लगे।

बोध प्रश्न-3

1) राजस्व मुक्त भू-अनुदानों से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

2) भूमि अनुदान क्या थे? ये अनुदान किन्हें प्राप्त होते थे?

.....

.....

.....

14.6.2 *ज़मींदार*

वस्तुतः मुगल साम्राज्य के प्रत्येक हिस्से में *ज़मींदार* उपस्थित थे और मुगल कालीन भारत की कृषि संरचना में उन्हें सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। *ज़मींदार* शब्द फारसी के दो शब्दों – *ज़मीन* (भूमि) और *दार* (ग्रहणकर्त्ता) से मिलकर बना है। मुगल काल से पहले *ज़मींदार* शब्द का उपयोग इलाके के प्रधान के लिए किया जाता था। इस तथ्य का, कि प्रधान सर्वोच्च संप्रभुसत्ता की सर्वोच्चता को स्वीकार करता था, इससे उसके अपने क्षेत्र में उसके अधिकारों पर कोई फर्क नहीं पड़ता था जब तक उसे इसका अधिकार प्राप्त था। अकबर के समय से यह पद किसी भी व्यक्ति के उत्पादन से सीधे हिस्सा ग्रहण करने के अनुवांशिक दावों के लिए जाना जाता था। *ज़मींदार* शब्द ने कई स्थानीय शब्दों जैसे दोआब में *खोत* और *मुकद्दम*, अवध में *सतारही* और *बिस्वी*, राजस्थान में *भोमिया* और गुजरात में *बंठ* या *वंठ* की जगह ले ली। हालांकि समकालीन उल्लेखों में *ज़मींदार* के पर्याय के रूप में इन शब्दों का उपयोग होता रहा है। जिन क्षेत्रों में *ज़मींदार* नहीं थे, उन क्षेत्रों को '***रैयती***' (किसानों के अधिकार-क्षेत्र) कहा गया।

नूरुल हसन ने *ज़मींदारों* को तीन श्रेणी में बांटा है:

क) प्राथमिक *ज़मींदार* जिनके भूमि पर स्वामित्व के कुछ अधिकार होते थे;

ख) मध्यस्थ (secondary) *ज़मींदार* जिनके बिचौलिया अधिकार होते थे और जो राज्य को भू-राजस्व एकत्रण में सहायता देते थे; और

ग) स्वायत्त सरदार जिनके अपने क्षेत्र पर स्वायत्त अधिकार होते थे और जो निश्चित धनराशि मुगल राज्य को देते थे।

ज़मींदारों के अधिकार

ज़मींदारी का मतलब भूमि पर सम्पत्ति अधिकार नहीं था। यह भूमि उत्पादन पर *ज़मींदारों* का एक दावा था जो राज्य की भू-राजस्व की माँग के साथ-साथ चलता था। लेकिन निजी सम्पत्ति की भाँति किसी भी वस्तु की तरह इसे बेचा या खरीदा जा सकता था। यह अनुवांशिक और विभाज्य था अर्थात् *ज़मींदार* के उत्तराधिकारी इसके वित्तीय लाभों को आपस में बांट सकते थे और इलाके के कानून के अनुसार *ज़मींदारी* के विशेषाधिकारों को ग्रहण कर सकते थे।

ज़मींदारों को ऐतिहासिक विरासत के रूप में अधिकार प्राप्त होते थे जिनका उपयोग उनके पूर्वज और वंशज किसी खास गाँव के निवासियों पर पहले से करते आ रहे थे। कभी *ज़मींदारों* ने गाँवों को बसाया होगा और उसकी ज़मीनों को किसान वर्ग में बांट दिया होगा। पूर्वी राजस्थान में, अपनी व्यक्तिगत ज़मीन पर खेती कराने के लिए *भूमिया* (*ज़मींदार*) ने *वसीदारों* (कृषकों की एक कोटि) को बसाया था। इस प्रकार शासकीय वर्गों ने *ज़मींदारी* अधिकारों को जन्म नहीं दिया बल्कि वे उनसे पहले से ही कायम थे। हालांकि जहाँ *ज़मींदारी* नहीं थी वहाँ राजा गाँवों में *ज़मींदारी* निर्मित कर सकता था। वह किसी *ज़मींदार* को पदच्युत भी कर सकता था। परन्तु यह कदम वह राजद्रोह या राजस्व के भुगतान न किए जाने पर ही उठाया करता था।

मध्यकालीन शासकों ने *ज़मींदारों* के अधिकारों को वैधता प्रदान की परन्तु उन्होंने बराबर यह प्रयत्न किया कि वे सरकार के प्रतिनिधि के रूप में राजस्व वसूल करें। *ज़मींदारों* ने जब से सरकार को राजस्व वसूल करने में मदद करने का काम शुरू कर दिया, तब से उसे इस सेवा (*खिदमत*) के लिए कुल राजस्व का एक खास प्रतिशत मिलने लगा। सरकारी आँकड़ों में इसे 10 प्रतिशत बताया गया है और इसे *नानकार* ('*भत्ता*') कहा गया। जब प्रशासन *ज़मींदारों* से नहीं बल्कि अपने प्रतिनिधियों से राजस्व वसूल करवाती थी तो उसे कुल राजस्व में से कुछ हिस्सा *ज़मींदार* को देना पड़ता था जिसे *मालिकाना* (सम्पत्तिगत अधिकार) कहते थे और *नानकार* की तरह यह भी कुल वसूली राशि का 10 प्रतिशत हिस्सा होता था।

गुजरात में *ज़मींदार* के इस दावे को *बंठ* या *वंठ* कहते थे। परन्तु, उत्तर भारत के *मालिकाना* की अपेक्षा इसकी दर ऊँची थी। *मालिकाना* की तरह इसका भुगतान भी नगद होता था। दक्खन में इसे *चौथ* ('एक चौथाई') कहते थे। जैसा कि नाम से स्पष्ट है यह वसूले गये राजस्व का एक चौथाई हिस्सा होता था। दक्खन के *ज़मींदारों* का एक अन्य वित्तीय दावा *सरदेशमुखी* के नाम से जाना जाता था जो कुल राजस्व का 10 प्रतिशत होता था। मराठों ने *चौथ* और *सरदेशमुखी* जैसे करों की वसूली किसी वास्तविक *ज़मींदारी* अधिकार के तहत नहीं बल्कि बल प्रयोग से की। शिवाजी के शासनकाल में *चौथ* के एक चौथाई हिस्से और पूरी *सरदेशमुखी* पर शासक का अधिकार होता था जबकि *चौथ* का तीन चौथाई हिस्सा मराठा सरदारों में वितरित कर दिया जाता था।

अपने मुख्य वित्तीय दावों के अलावा ये *ज़मींदार* किसानों से कई प्रकार के उप-कर (*अबवाब*) और नज़राने वसूल किया करते थे। इनमें से कुछ *अबवाब* हैं: *दस्तर शुमारी* (पगड़ी कर), गृह कर (*खाना शुमारी*), विवाह और जन्म, आदि पर कर, आदि। *ज़मींदार* अपने इलाके के साप्ताहिक बाज़ारों से भी कर वसूला करता था। कई बार अपने क्षेत्र से गुजरने वाले माल पर भी वे कर वसूला करते थे। *ज़मींदारों* द्वारा वसूली गयी इन राशियों का अनुमान लगाना बहुत कठिन है। ऐसा माना जा सकता है कि उनके भू-राजस्व से प्राप्त वित्तीय दावे की तुलना में यह (उप-करों से प्राप्त राशि) काफी कम थी।

अभी तक हम सीधे प्रशासन वाले क्षेत्र के प्राथमिक और मध्यस्थ *ज़मींदारों* की बात कर रहे थे। प्रत्येक शासन की यह कोशिश रहती थी कि इन *ज़मींदारों* को मात्र कर 'वसूलकर्ता' बनाकर रख दिया जाये। इनके अलावा *राजा, राव, राणा* और *रावत* जैसे कुछ सरदार या सामंत होते थे, जो अपने क्षेत्र में कमोबेश स्वायत्त हुआ करते थे और साम्राज्य प्रशासन के बिना किसी हस्तक्षेप के शासन किया करते थे (देखिए **इकाई 6**)। उन्हें केवल राजा को नज़राना (*पेशकश*) के रूप में निश्चित राशि देनी होती थी। वे किसानों से जितना वसूल करते थे उसका एक खास हिस्सा शासक को दिया करते थे और शेष राजस्व पर उनका अधिकार होता था। साम्राज्य प्रशासन उन्हें अर्द्ध-स्वायत्तता का दर्जा प्रदान करता था और एक बार *पेशकश* दे देने के बाद उनके आंतरिक प्रशासन में कोई हस्तक्षेप नहीं करता

था। इरफान हबीब के अनुसार, '*ज़मींदारों* और स्वायत्त सरदारों के बीच का अन्तर केंद्रीय शक्ति से उनके संबंधों पर आधारित था जिनके द्वारा सरदारों को तो स्वायत्तता प्रदान की गई थी, किन्तु साधारण *ज़मींदार* राजा की विशेषाधिकार प्राप्त (*मालिकाना*) प्रजा के समतुल्य थे।'

ज़मींदारों की सैन्य शक्ति

ज़मींदारों के पास अपनी पैदल और घुड़सवार सेना होती थी। सेना की सहायता से वे किसानों से राजस्व वसूला करते थे और उन्हें दबाया करते थे। लगभग सभी *ज़मींदारों* के पास अपने छोटे या बड़े *किलाचे, गढ़ी* या किले होते थे। *आईन-ए अकबरी* के अनुसार मुगल साम्राज्य में *ज़मींदारों* की सेना में चौवालीस लाख से ज्यादा सिपाही थे। बंगाल में उनके पास हजारों नावें थीं।

चौधरी

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, *ज़मींदार* भू-राजस्व वसूल करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। इनमें से कुछ को राजस्व वसूल करने की दृष्टि से *चौधरी* की उपाधि दे दी जाती थी। *परगना* के एक प्रमुख *ज़मींदार* को *चौधरी* नियुक्त किया जाता था। आमतौर पर एक *परगना* में एक *चौधरी* होता था।

चौधरी को *परगने* के अन्य *ज़मींदारों* से कर वसूलना होता था। अपने परंपरागत *नानकार* के अतिरिक्त *चौधरियों* को वसूले गये इस राजस्व में से भी अलग से हिस्सा मिलता था। इसे *चौधराई* कहते थे और यह कुल वसूले गये राजस्व का ढ़ाई प्रतिशत होता था। *ज़मींदारों* के विपरीत *चौधरी* की नियुक्ति राज्य करता था और उसे ठीक ढंग से काम न करने पर किसी भी समय हटाया जा सकता था।

14.6.3 अन्य मध्यस्थ वर्ग

प्रत्येक गाँव में कई अनुवांशिक पदाधिकारी होते थे। उनमें सर्वप्रमुख गाँव का मुखिया (उत्तर भारत में *मुकद्दम* और दक्खन में *पटेल*) होता था। उसके जिम्मे राजस्व वसूलना और गाँव में कानून व्यवस्था की देख-रेख करना होता था। अपनी सेवाओं के बदले में उसे गाँव में राजस्व मुक्त भूमि प्रदान की जाती थी। हालांकि कुछ मामलों में उसे भी वसूले गये राजस्व में से नगद हिस्सा मिला करता था। इसके अलावा उसे किसानों से भी उपज में से कुछ हिस्सा लेने का अधिकार था। राजस्व वसूल करने में ग्रामीण लेखपाल (उत्तर भारत में *पटवारी* और दक्खन में *कुलकर्णी*) *मुकद्दम* की सहायता किया करता था। *पटवारी* किसानों से वसूले गये राजस्व और राज्य को दिये गये राजस्व का लेखा-जोखा (बही) तैयार करता था। उसके आँकड़ों से प्रशासन को किसानों के राजस्व चुकाने के सामर्थ्य का पता लगाने और गाँव पर कुल भू-राजस्व निर्धारित करने में सहायता मिलती थी। *मुकद्दम* के समान उसे भी राजस्व मुक्त भूमि मिलती थी अथवा राजस्व में से नगद हिस्सा मिलता था। गाँव के मुखिया की अपेक्षा उसका भत्ता काफी कम था। *मुकद्दम* और *पटवारी* का पद और उससे जुड़े विशेषाधिकार अनुवांशिक थे।

बोध प्रश्न-4

1) *ज़मींदारी* अधिकारों की प्रकृति पर संक्षेप में विचार कीजिए।

.....

.....

.....

2) निम्नलिखित पर दो पंक्तियाँ (प्रत्येक) लिखिएः

i) *चौधरी* .....

.....

ii) *मुकद्दम* .....

.....

14.6.4 कृषक वर्ग

अभी तक हमने भूमि से होने वाली उपज पर सर्वोच्च अधिकार रखने वाले वर्गों का अध्ययन किया। इस भाग में हम उत्पादन करने वाले वर्ग का अध्ययन करने जा रहे हैं।

कृषक वर्ग में किसान मुख्य रूप से सीधे खेती से जुड़ा हुआ था। हालांकि किसानों के भी कई स्तर थे परन्तु अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से सभी को एक ही शीर्षक के अन्तर्गत रखा जा रहा है।

किसान ग्रामीण समाज का मुख्य वर्ग था और उससे वसूले गये राजस्व पर ही पूरा शासन और राज्य-तंत्र आधारित था। **इकाई 13** में आपने यह देखा कि किसानों को अपनी उपज का अधिकांश हिस्सा राजस्व के रूप में दे देना होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकांश किसान मुश्किल से अपना जीवनयापन कर पाते थे।

कृषक वर्ग के भूमि संबंधी अधिकार

किसानों के भूमि संबंधी अधिकार को लेकर इतिहासकारों के बीच लम्बी बहस चली है। हालांकि राज्य ने कभी भी भूमि पर किसानों के अधिकारों को नकारा नहीं परन्तु उन्हें कभी भी अपनी इच्छानुसार भूमि खरीदने और बेचने का अधिकार भी नहीं दिया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि जब तक किसान खेती करता था तब तक भूमि पर उसका अधिकार होता था। किसान खेती करता रहे और राजस्व देता रहे तो *ज़मींदारों* और राज्य को किसानो को बेदखल करने का कोई अधिकार नहीं था। ऐसा प्रतीत होता है कि मुगल काल में भूमि संबंधी सम्पत्तिगत अधिकार का स्वरूप कुछ स्थिर और निश्चित नहीं हुआ करता था। हाँ, इस काल की महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इस दौरान भूमि के उत्पादन पर तरह-तरह के दावे प्रस्तुत किए गये।

पीड़ित होकर या अन्य समस्याओं के कारण किसानों के गाँव छोड़कर भाग जाने का उल्लेख कई समकालीन वृत्तांतों में मिलता है। ऐसी अनेक घटनाओं का पता चलता है जिसमें किसान व्यक्तिगत रूप में या सामूहिक रूप में कहीं जाकर बस गये हों। मुगल कालीन भारत में किसानों का एक जगह से दूसरी जगह जाना एक स्थापित तथ्य है। इस प्रकार का स्थान परिवर्तन और पलायन शोषण या बाढ़ अथवा अकाल जैसे प्राकृतिक प्रकोपों के कारण हुआ करता था।

कृषक वर्ग का स्तरीकरण

कृषक वर्ग कोई समरूप समुदाय नहीं था। इनका स्तरीकरण सम्पत्ति और सामाजिक हैसियत में भिन्नता के कारण था। बड़े किसानों के पास ज्यादा संसाधन होते थे, उनके पास ज्यादा खेत थे और वे अपने खेतों में मजदूरों की भी सहायता लेते थे। वे गाँव के मुखिया (*मुकद्दम* या *पटेल*) के रूप में अन्य किसानों के उत्पादन से हिस्सा ग्रहण कर सकते थे। यह विभाजन इतना स्पष्ट था कि सरकारी आँकड़ों और लेखों में इनका अलग से उल्लेख किया जाता था। धनी किसानों को उत्तर भारत में *खुदकाश्त* (स्वयं खेती करने वाले कृषक), राजस्थान में *घरूहल* और महाराष्ट्र में *मिरासदार* कहते थे। गरीब किसानों को उत्तर भारत में *रेज़ा रियाया* (छोटे किसान), राजस्थान में *पालती* और महाराष्ट्र में *कुनबी* कहते थे।

इसका एक प्रमुख कारण चारों तरफ फैली नगदी व्यवस्था में ढूंढा जा सकता है। चूँकि भारत के अधिकांश हिस्सों में भू-राजस्व का भुगतान नगद के रूप में होता था, अतः किसान और खेतिहरों को बाध्य होकर अपनी फसल बाज़ार जाकर व्यापारियों को बेचनी पड़ती थी या फसल कटाई के समय महाजन से उधार लेना पड़ता था। ऐसी स्थिति में नगदी फसल उगाने वाले किसान फायदे में रहते थे क्योंकि वे ऊँचे दामों में अपनी फसल बेचते थे। परंतु संसाधनों के अभाव में जो किसान खाद्य फसलें उगाते थे उनका मूल्य बाज़ार में अपेक्षाकृत कम होता था और उन्हें कम पैसा मिलता था। सभी किसान नगदी फसल की खेती नहीं कर सकते थे क्योंकि इसमें लागत ज्यादा आती थीः अच्छी किस्म का बीज, बेहतर उर्वरक, सिंचाई सुविधाओं और उर्वर भूमि की जरूरत पड़ती थी। भू-राजस्व की नगद माँग के कारण सम्पन्न किसानों और निर्धन किसानों के बीच खाई बढ़ती चली गयी। सम्पन्न किसान अपने संसाधनों का उपयोग कर नगदी फसल उगा सकता था जबकि निर्धन किसानों के लिए खाद्यान्न फसल उगाना भी महंगा और कष्टकर कार्य होता था। भू-राजस्व माँग की दमनात्मक प्रवृत्ति के कारण भी किसान वर्ग में भेद पैदा हो गये। अमीर और गरीब दोनों प्रकार के किसानों से एक ही प्रकार की राजस्व माँग की जाती थी परंतु वास्तव में गरीब किसानों को अमीरों की अपेक्षा ज्यादा बोझ झेलना पड़ता था। ग्रामीण संगठन या आम बोलचाल की भाषा में 'ग्रामीण समुदाय' ने *खुदकाश्त* किसानों के राजस्व की दर कम करके और इस घाटे को *रेज़ा रियाया* द्वारा पूरा करवाकर इस विभाजन को और गहरा बना दिया।

किसान वर्ग के विभाजन का आधार केवल आर्थिक ही नहीं था। गाँव के स्थाई निवासी (उत्तर भारत में *खुदकाश्त*, महाराष्ट्र में *मिरासदार* और दक्खन में *थालवैक* या *थालकर*) और अस्थाई निवासियों (उत्तर भारत में *पाई/पाही काश्त*, महाराष्ट्र में *उपरी*) में भी भेद था। जातिगत बंधन और गोत्रीय संबंध (*भाईचारा*) भी विभाजन के आधार थे।

भारत के गाँवों के किसानों से भी नीचे, सामाजिक दृष्टि से भी निम्न, श्रमिक वर्ग था। कृषक जातियों के अनुपात में उनकी संख्या का अनुमान लगाना लगभग असंभव है। परन्तु संभवतः भारत की ग्रामीण जनसंख्या में उनकी संख्या काफी थी। समकालीन साहित्य में उन्हें 'चर्मकार', *बलाहार, थोरी* और *धानक*, आदि कहा गया है। वे किसानों और *ज़मींदारों* के लिए सस्ती दरों पर मजदूरी करते थे। बुआई और कटाई के समय ये किसानों और *ज़मींदारों* के खेतों में काम करते थे इसलिए उन्हें दबाकर रखना उन दोनों (किसान और *ज़मींदार*) के हित में था। सस्ती दर पर मजदूर उपलब्ध होने के कारण कृषि लागत में कमी आई और 'अधिशेष' उत्पादन में वृद्धि हुई। इससे शासक और ज्यादा राजस्व वसूलने के लिए प्रवृत्त हुए। इन 'निम्न' जाति के मजदूरों का शोषण राज्य, *ज़मींदार* और किसान एक साथ मिलकर करते थे।

14.6.5 ग्रामीण समुदाय

आमतौर पर एक गाँव के किसान अधिकांशतः एक ही जाति के होते थे। ऐतिहासिक रूप से इन गाँवों को एक परिवार या कुल द्वारा बसाया जाता था। प्रभावशाली जाति के किसानों के अलावा एक गाँव में निम्न जाति के मजदूर भी रहा करते थे। समकालीन आलेखों को देखने से लगता है कि कई मामलों में ये गाँव समुदाय के रूप में कार्य करते थे। इससे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि यहाँ किसी प्रकार की सामुदायिक भूमि की व्यवस्था थी। खेतों का मालिक निश्चित रूप से कोई कृषक विशेष होता था। राजस्व निर्धारण और वसूली की सुविधा को ध्यान में रखते हुए राजस्व पदाधिकारी गाँव को एक इकाई मान लिया करते थे। *पटवारी* द्वारा ग्रामीण पदाधिकारी के रूप में कार्य करना इसका प्रमाण है। यह माना जाता है कि *पटवारी* को व्यक्तिगत किसानों के उत्पादन और राजस्व अदायगी का हिसाब-किताब रखना पड़ता था। लेकिन गाँव एक इकाई के रूप में राज्य को भुगतान करता था। व्यक्तिगत किसानों के राजस्व को एक सामूहिक निधि-कोष में डाल दिया जाता था जो *पटवारी* के जिम्मे होता था। इस कोष से कुछ पदाधिकारियों के भू-राजस्व, शुल्क और अन्य राशियों और गाँव के सामूहिक खर्च का भुगतान किया जाता था। यहाँ तक कि महाजन से लिया गया ऋण भी इसी कोष से चुकाया जाता था।

गाँव के प्रभावशाली लोगों को मिलाकर एक ग्राम *पंचायत* बनती थी। ग्राम *पंचायत* भूमि से सम्बद्ध विवादों को निपटाती थी, बंजर भूमि की देखभाल, आदि का कार्य करती थी। अपराधियों को गिरफ्तार करना, चोरी हुई वस्तु का मूल्य चुकाना या उन्हें खोज निकालना *पंचायत* की राज्य के प्रति जिम्मेदारी थी। ये *पंचायतें* राज्य से ऊपर नहीं थीं। राज्य इन्हें ग्रामीण समाज में परंपरागत भूमिका निभाने से तब तक नहीं रोकता था जब तक कि राज्य के आधारभूत सिद्धांतों पर ही कुठाराघात न किया जा रहा हो।

गाँव में कुछ सामाजिक समुदाय ऐसे भी होते थे जो सीधे कृषि उत्पादन से सम्बद्ध नहीं थे परन्तु कृषि गतिविधियों में उनकी कुछ न कुछ भूमिका होती थी। *महाजन* राज्य और किसानों के बीच मध्यस्थ का कार्य करता था और उसका ग्रामीण समाज और अर्थव्यवस्था पर काफी नियंत्रण होता था। वे किसानों को व्यक्तिगत तौर पर ऋण प्रदान करते थे और गाँव को सामूहिक तौर पर बीज और औजार के लिए कर्ज देते थे। वे राजस्व अदा करने और सामाजिक ज़रूरतों को पूरा करने के लिए भी कृषकों को ऋण दिया करते थे।

गाँवों में कारीगर भी रहा करते थे। उन्हें अपनी सेवाओं के बदले कटाई के समय फसल दी जाती थी। दक्खन और महाराष्ट्र में यह व्यवस्था अच्छे ढंग से व्यवस्थित थी। इन्हें *बलूतेदार* कहा जाता था। हमने इनके बारे में **उप-भाग 14.7.4** में कुछ विस्तृत चर्चा की है। ग्रामीण समुदाय, *पंचायत* या *बलूतेदार* की व्यवस्था मुगल साम्राज्य के सभी गाँवों में एक समान नहीं थीं। विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न प्रकार की संरचनाएँ थीं। सभी गाँवों में किसी न किसी रूप में सामुदायिक संरचना विद्यमान थी। परन्तु, उनका अपने सदस्यों पर नियंत्रण का स्तर और प्रभाव अलग-अलग था।

14.6.6 कृषक वर्गों के अन्तर्संबंध

इस इकाई के आरंभिक भाग में हमने कई कृषि वर्गों का उल्लेख किया है। हमने देखा कि *जागीरदार*, धार्मिक अनुदान प्राप्तकर्ता, *ज़मींदार* और ग्रामीण स्तर पर अनेक बिचौलिए उत्पादन के अधिशेष से अपना हिस्सा लिया करते थे। हमने उत्पादक वर्ग अथवा किसान वर्ग का भी अध्ययन किया। इस भाग में हम इन वर्गों के संबंधों का अध्ययन करेंगे।

ज़मींदारों और *जागीरदारों* का भरण-पोषण किसानों द्वारा उपजाए गये अनाज के अधिशेष से होता था अतः किसानों के शोषण के मामले में ये एक दूसरे की सहायता किया करते थे। *ज़मींदार* गाँव में स्थाई रूप से रहता था। अतः वह किसानों पर इतना ज्यादा अत्याचार और शोषण नहीं करना चाहता था कि किसान अपना खेत छोड़कर भाग जाएँ जिसके फलस्वरूप कृषि कार्य के बंद हो जाने का भय रहता था। इससे आने वाले वर्ष में उसी की वित्तीय आमदनी पर प्रभाव पड़ता। बर्नियर, जो 17वीं शताब्दी के मध्य में भारत आया था, उसने *जागीरदारों* के दृष्टिकोण पर विशेष टिप्पणी की। उसके अनुसार *ज़ागीरों* के जल्दी-जल्दी स्थानान्तरण के कारण *जागीरदार*, गवर्नर और राजस्व के ठेकेदार किसान की दयनीय स्थिति की बिल्कुल चिंता नहीं करते थे। वे केवल किसानों को ज्यादा से ज्यादा चूसना जानते थे चाहे उनके शोषण से तंग आकर किसान अपने खेत छोड़कर भाग जायें और खेती नहीं हो पाए।

18वीं शताब्दी का एक लेखक जवाहर नाथ बेकस लिखता है कि एक दिन का हाकिम (*जागीरदार*) एक क्षण में पाँच सौ वर्षों के *ज़मींदार* को हटाकर उसके स्थान पर किसी भी व्यक्ति को बैठा सकता है। इरफान हबीब उसकी शक्तियों पर विस्तार से चर्चा करते हुए लिखते हैं, '*जागीरदार* किसानों को एक अर्ध-दास की तरह भूमि से बाँधकर रखने की ताकत रखता था और अगर वे भाग जाएँ तो पुनः पकड़कर वापस बुला सकता था। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में *जागीरों* की अनिश्चितता के कारण *जागीरदार* किसानों का दमन करने लगे। उन्हें उनके कल्याण की तनिक भी चिंता नहीं थी। इरफान हबीब के अनुसार 'हालांकि निःसन्देह मुगल प्रशासन ने *जागीरदारों* की अवैध माँग को नियंत्रित और कम करने की कोशिश की, फिर भी यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि *ज़ागीरदारों* द्वारा निजी तौर पर थोड़े समय के लिए बढ़ाए गए राजस्व के दबाव को इसके द्वारा कम किया जा सका था। इन दबाबों के कारण न केवल खेती के प्रसार में बाधा पड़ी बल्कि इससे मुगल शासकीय वर्ग दो प्रमुख कृषि वर्गों, *ज़मींदारों* और कृषक वर्ग से गहरे रूप में उलझ गया।'

कृषक वर्ग अंदर से विभाजित था और खेतिहर मजदूरों से उनके अंतर्विरोधों के कारण यह वर्ग सशक्त और संगठित वर्ग के रूप में न उठ सका और इस वर्ग की क्षमता में कमजोरियाँ पैदा हो गईं। इस विभाजित और विखंडित वर्ग में मध्यकालीन निरंकुश राजतंत्र से लड़ने की क्षमता नहीं थी। इसके बावजूद इन्होंने दो कारणों से विद्रोह किया पहला जब राजस्व माँग किसानों के अधिशेष उत्पादन से ज्यादा हो गयी और इस प्रकार उनके अस्तित्व पर ही संकट आ गया। इन विद्रोहों में किसानों ने राजस्व घटाने की माँग के अलावा और कोई माँग नहीं की। किसानों ने *ज़मींदारों* के अनुयायियों के रूप में भी विद्रोह किया जो राज्य या *जागीरदार* के खिलाफ विद्रोह कर रहे थे (ये विद्रोह केवल उत्पादन में हिस्सा लेने के लिए हुए थे)। किसान इस आशा में उनका साथ दे रहे थे कि विद्रोह के बाद उनकी स्थिति सुधरेगी या फिर अपने मालिक की सेवा मात्र के उद्देश्य से कर रहे होते थे। औरंगज़ेब के काल में हुए इस प्रकार के किसान विद्रोह, विशेष रूप से सतनामी और जाट, मूलतः *ज़मींदारी* विद्रोह ही थेः *ज़मींदार* उनका नेतृत्व करते थे और किसान *ज़मींदारों* की उद्देश्य पूर्ति में सहायक का काम करते थे।

बोध प्रश्न-5

1) किसानों की विभिन्न श्रेणियों का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

2) ग्रामीण समुदाय किस प्रकार कार्य करता था।

.....

.....

.....

3) *जागीरदारों* और *ज़मींदारों* के हितों में टकराव की चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

14.7 कृषि संबंध : दक्खन

विभिन्न भूमि अधिकारों का विश्लेषण करने के पहले हम उन मध्यकालीन दक्खनी गाँवों का वर्णन करेंगे जहाँ यह कृषि भूमि अवस्थित थी। बाद वाले भाग में हम मध्यकालीन दक्खन में भूमि के स्वामित्व और ग्रामीण समुदाय से संबंधित अधिक जटिल समस्याओं पर भी विचार करेंगे।

14.7.1 मध्यकालीन दक्खनी गाँवों की संरचना

दक्खन की स्थानीय भाषा में *गाँव* को उरू कहा गया हैं इसे *मौजे* (*अरबी* शब्द *मौजा* का अपभ्रंश रूप) और *देह* (फारसी) भी कहा जाता है। बड़े गाँव को, जिसमें *बाज़ार* भी होता था, *कस्बे* (*अरबी कस्बाह*) कहा जाता था। *गाँव* शब्द संस्कृत शब्द *ग्राम* से बना है। ग्रामीण खेतों के विशाल फैलाव को ***गाँव शिवान*** कहा जाता था। इसमें जोती हुई (*काली*), बिना जोती हुई या बंजर भूमि भी शामिल होती थी। खेती योग्य भूमि को टुकड़ों में बांटा जाता था। एक परिवार के खेतों को ***थल*** (संस्कृत *स्थल*) कहते थे। (इसमें 20-24 खंड होते थे)। प्रत्येक खंड के इलाके को *क्षेत* या *क्षेत्र* (संस्कृत) या *जमीन* (फारसी *ज़मीन*) कहते थे। प्रत्येक क्षेत्र और परिवार के मूल स्वामी की उपाधि ग्रामीण *बही* में लिखी होती थी जिसे ***थलज़ादा*** कहते थे। वास्तविक खेती की गई भूमि और निर्धारित राजस्व की राशि एक *बही* में दर्ज की जाती थी जिसे *कुल घदनी* कहते थे।

गाँव की सीमा का सुस्पष्ट निर्धारण किया जाता था और अगर कोई इस पर अवैध अतिक्रमण करने की कोशिश करता था तो उसका विरोध किया जाता था। गाँव की खेती योग्य जमीन को *काली* (एक देशज शब्द जिसका तात्पर्य ऐसी काली मिट्टी से है जो खेती के लायक होती है) और गाँव के निवास स्थल को *गाँव स्थान* या ***पानढ़री*** (देशज शब्द, ऐसी मिट्टी जिस पर खेती न की जा सके) कहते थे। जब *पानढ़री* दीवार से घिरा और संरक्षित होता था तब इसे *गाँव कुन्सु* कहते थे। यह निवास स्थानों में विभक्त होता था जिसे *घर, ठिकाने* या *घरथान* कहते थे। प्रत्येक परिवार अपने आबंटित टुकड़े पर *घर* (*घर* या *वाड़ा*) बनाता था। गाँव छोड़ कर चले गए, लुप्त हो गए किसी परिवार (*गटकुल*) द्वारा छोड़े गए घर या गृह स्थान को क्रमशः ***गटकुल***, *घरथान* और *गटकुल वाड़ा* कहते थे। इन ज़मीनों पर या तो ग्रामीण समुदाय का कब्जा हो जाता था या यहाँ नया परिवार बस जाता था परन्तु *थलज़ादा* में मूल मालिक का नाम नहीं बदलता था। *थल* और सम्पदा के मूल परिवार को *जत्था* कहा जाता था। *जत्था* परिवार *थलकरी* या *थलवाही* का पर्याय था और परिवार के नामों के साथ विभाजन की सूची को *ज़मीनज़ादा जत्थावार* कहा जाता था। *मुण्डा* इसी प्रकार का एक विभाजन था। मिट्टी की उर्वरता, उत्पाद् और जनसंख्या के अनुरूप गाँवों का आकार भिन्न-भिन्न होता था।

14.7.2 भू-स्वामित्व

भूमि के स्वामित्व के प्रश्न पर काफी समय से विद्वान बहस करते रहे हैं और कर रहे हैं। मनुस्मृति के अनुसार जो व्यक्ति (या परिवार) जंगल काटकर उसे खेती के योग्य बनाता था ज़मीन उसी की होती थी। बुरहान निज़ाम शाह के संरक्षण में रहने वाले साबाजी प्रताप राजा द्वारा संकलित समकालीन न्यायिक कृति *परशुरामप्रताप* में भूमि के स्वामित्व पर प्रकाश डाला गया है। इसमें मिट्टी से उपजी वस्तु पर ही राजा का अधिकार बताया गया है और किसानों के स्वामित्व अधिकार की बात की गई है। निज़ाम शाही राज्य में मलिक अम्बर ने *थलकरी* के अनुवांशिक *मालिकाना* अधिकार, जो *मिरासी* कहलाता था, को वैधता प्रदान करते हुए प्राचीन संयुक्त अधिकार ग्रामीण संस्थाओं को पुनर्जीवित किया।

भू-स्वामित्व के प्रश्न को सुलझाने के लिए मराठों ने *स्मृतियों* में वर्णित प्राचीन परम्पराओं का सहारा लिया। 17वीं-18वीं शताब्दी में मराठा राज्य में ग्रामीण संयुक्त अधिकार और *गोत* संस्थाओं का हवाला मिलता है। ज़मीन बेचने के *इकरारनामा* से यह पता चलता है कि ज़मीन बेची जाती थी और पेशवा को *मिरासी* अधिकार हस्तांतरित किए जाते थे। एक अवसर पर ग्रामीण समुदाय ने कुछ राशि लेकर पेशवा को ज़मीन दे दी थी और उसका स्वामित्व भी दे दिया था। ***व्यवहारमयुख*** (17वीं शताब्दी का एक ग्रंथ) प्रबंध के लेखक का कहना है कि राज्य सम्पूर्ण भूमि का स्वामी नहीं है बल्कि वह भूमिधारियों से केवल कर वसूल सकता है।

मराठों के कई अनुदानों में ज़मीन पर राजा के कतिपय अधिकारों की चर्चा की गई है। *व्यवहारमयुख वृत्ति* या *वतन* (भूमि और गृह से युक्त) को निजी सम्पत्ति मानता है। इसमें विभाजन, बिक्री, बंधक और उत्तराधिकार संबंधी अधिकारों की चर्चा की गई है जो पुनः*गोत मजलिस* (ग्रामीण सभा) के कार्य और अस्तित्व को संपुष्ट करता है।

मुसलमान शासित राज्यों में कई कारणों से भूमि अधिकारों और भू-स्वामित्व के प्रश्न के नये आयाम सामने आए। विजित प्रजातियों या राज्यों के अधिकारों के संबंध में मुसलमानों के वैधानिक सिद्धांतों से भू-स्वामित्व की समस्या को सुलझाने में मदद मिलती हैं। उन सिद्धांतों के अनुसार गैर-मुसलमानों द्वारा शासित भूमि (*दारूल हर्ब*) के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर देना एक मुसलमान शासक का प्रमुख कर्तव्य था। इस प्रक्रिया में विजित क्षेत्रों के लोगों से नज़राना प्राप्त कर उन्हें संरक्षण प्रदान किया गया। इन लोगों को *ज़िम्मी* कहा जाता था। परम्परागत इस्लामी *फिक्ह हिदाया* का लेखक विजित क्षेत्रों के बारे में कहता है कि उन्हें पैगम्बर द्वारा सुझाए गए तरीके से सैनिकों के बीच बांट दिया जाना चाहिए या *जज़िया* और *खराज* (भूमि पर) देने की शर्त पर उन्हें उनके मूल निवासियों को लौटा दिया जाना चाहिए। बाद वाली स्थिति में मालिकाना अधिकार मूल निवासियों के पास रहता था। *ज़िम्मियों* को भूमिकर के रूप में उपज का आधा भाग भुगतान करना पड़ता था, जबकि मुसलमानों को उपज का दसवाँ हिस्सा देना पड़ता था जिसे *उश्र* कहते थे। मुसलमान सिद्धांतकार किसानों को काश्तकार मानते थे और दस्तावेजों में उन्हें *'रैयत'* कहा गया है। उनके मालिकाना अधिकार और इस प्रकार भू-स्वामित्व को मुसलमान शासकों ने मान्यता नहीं दी, केवल मलिक अम्बर ने *मिरासी* अधिकारों को स्वीकार किया।

मध्यकालीन दक्खन में भू-स्वामित्व संबंधी आधुनिक सिद्धांतों पर भी ध्यानपूर्वक विचार किया जाना चाहिए। बी. एच. बेडन पावेल ने अपनी पुस्तक *द इण्डियन विलेज कम्युनिटी* (1896) में पहले पहल यह सिद्धांत सामने रखा कि लगभग सभी भूमि (*इनाम* और *वतन* को छोड़कर जिसमें व्यक्तिगत या संस्थागत स्वामित्व था) पर राज्य का अधिकार था। उनके अनुसार, 'राज्य द्वारा प्रदान की गई राजस्व मुक्त भूमि और *वतन* (किसी गाँव या जिले में प्राप्त पद के बदले में मिली भूमि) या विशेषाधिकारों वाली भूमि में ही स्वामित्व को स्वीकार किया गया।' ए. एस. आल्तेकर इस मत की आलोचना करते हुए सभी प्रकार की कृषि भूमि पर किसानों के स्वामित्व के सिद्धांत की वकालत करते हैं। अपनी पुस्तक *ए हिस्ट्री ऑफ विलेज कम्युनिटीज़ इन वेस्टर्न इंडिया* (1927) में न तो वे भूमि के सामुदायिक स्वामित्व (जैसा मार्क्स और एच. जे. एस. मेन ने प्रतिपादित किया था) को स्वीकारते हैं और न ही राज्य के स्वामित्व को। बल्कि वे किसानों के स्वामित्व को स्थापित करते हैं। वे यहाँ तक कहते हैं कि *इनामदारों* का भूमि पर कोई मालिकाना अधिकार नहीं था, उनका अधिकार केवल राजस्व वसूलने तक सीमित था। एस. एन. सेन ने अपनी कृति *एडमिनिस्ट्रेटिव सिस्टम आफ द मराठाज़* (1923) में तीन प्रकार की भूमियों – *इनाम, मिरास* और राज्य की भूमि और किसानों के दो प्रकारों – *मिरासदारों* और *उपरियों* – का उल्लेख किया है। *मिरासदारों* का भूमि पर मालिकाना अधिकार होता था, और जब तक वे लगान भुगतान करते रहते थे तब तक उनकी जमीन कोई छीन नहीं सकता था। *मिरासदार* द्वारा गृहित भूमि अनुवांशिक होती थी और वह उसे बेच सकता था और यदि लगान न देने के कारण उससे ज़मीन छीन ली जाती थी तो उसे पुनः अपनी पैतृक भूमि को वापस लेने का अधिकार था। *उपरी* काश्तकार थे जो *मामलतदारों* की निगरानी में सरकारी ज़मीन पर काम करते थे। ये सिद्धांत आरंभिक अंग्रेज प्रशासकों की रिपोर्टों पर आधारित हैं और इनमें दो मुद्दों पर ध्यान दिया गया है – 1) किसानों के दो वर्ग थे, और 2) व्यक्तिगत *मिरासदारों* के पास *मिरास* भूमि होती थी जिस पर कर लगाया जाता था।

इन रिपोर्टों में समाप्त या लुप्त हो गए परिवारों की भूमि या बंजर भूमि के अधिकारों के प्रश्न पर असहमति व्यक्त की गई है। वे *वतन* और *इनाम* अधिकार को स्पष्ट नहीं करती हैं और सरकारी भूमि के संबंध में भी उनमें अस्पष्टता बनी हुई है।

14.7.3 भूमि संबंधी अधिकारों के प्रकार

ग्रामीण समुदाय में रहने वाले खेतिहर परिवारों के अधिकारों और विशेषाधिकारों का निर्धारण भूमि पर उनके स्वामित्व के अधिकारों की प्रकृति से होता था। गाँव के खेती योग्य क्षेत्र को 1) *मिरास* भूमि, 2) *इनाम* भूमि, 3) राज्य भूमि, और 4) समाप्त/लुप्त हो गए परिवारों की भूमि में विभाजित किया गया था। इन विभिन्न भूमि संबंधी अधिकारों पर विचार करने से विवेच्य काल की कृषि व्यवस्था के कुछ पहलू सामने आ सकेंगे।

मिरासी अधिकार

मिरास अरबी मूल का शब्द है। मराठी दस्तावेजों में इसे अनुवांशिक या हस्तांतरणीय अधिकार या वंश परम्परा से या *इनाम*, आदि के रूप में पैतृक प्राप्त सम्पत्ति (*बाप रोटी*) कहा गया है। *मिरासी* अधिकार के तहत *मिरासदार* का जमीन पर कब्जा होता था। वे ग्रामीण ज़मीन के मालिक होते थे और अपनी ज़मीन पर रहने वाले लोगों से धन या सेवा वसूल कर सकते थे। *मिरासदारों* की दो कोटियाँ थीः 1) *मिरास* भूमि के अनुवांशिक स्वामी और 2) वे जिन्होंने गाँव की *गटकुल* भूमि पुनः प्राप्त की हो। अनुवांशिक *मिरासदारों* को गाँव की पुरानी सूची *थलज़ादा* में रखा जाता था और भूमि पर उनके पास कोई अधिकार पत्र नहीं होता था। दूसरी श्रेणी को *मिरास पत्र* (*मिरास*-अधिकार पत्र) प्राप्त होता था जिसे ग्रामीण समुदाय प्रमाणित करता था और इस अधिकार पत्र को पड़ोसी इलाकों के ग्रामीण समुदायों और जिले के *देशमुखों* और *देशपाण्डे* से अनुमोदित करवाना पड़ता था।

मिरास पत्र देने की प्रथा *स्मृतियों* में दी गई व्यवस्था से मेल खाती है। *मिरासदारों* के परिवारों को ग्रामीण सभा या *गोत सभा* में मत डालने का अधिकार था। हिंदू सामूहिक अधिकार पारिवारिक व्यवस्था के अनुरूप परिवार का सबसे बड़ा सदस्य इस अधिकार का प्रयोग करता था। शिवाजी के शासनकाल के दौरान मराठा राज्य में *मिरासदार* के अधिकारों और विशेषाधिकारों में काफी कटौती की गई। *मिरासी* अधिकार में भूमि के अनुवांशिक स्वामित्व की अवधारणा निहित थी। अगर कोई सरकार को लगान नहीं चुका पाता था और इस कारण उसको ज़मीन से बेदखल कर दिया जाता था तो भी *थलज़ादा* में उसका नाम बना रहता था और उसके वंशज सरकार का बकाया चुका कर सौ वर्ष बाद भी अपनी ज़मीन वापस ले सकते थे।

मिरासदारों के पास दो आधारों पर ग्रामीण भूमि रहती थीः 1) पहला आधार संयुक्त अधिकार की शर्त थी जिसके अनुसार गाँव की ज़मीन के कई हिस्से किए जाते थे, और 2) गाँव का एकल मालिकाना स्वामित्व का दूसरा आधार होता था।

ग्रामीण संयुक्त अधिकार या प्राचीन *थल* व्यवस्था *मिरासी* अधिकार का आधार थी। इस प्रकार की भूमि पर गाँव के विभिन्न परिवारों का संयुक्त रूप से अधिकार होता था। उसका हिस्सा, अधिकार और विशेषाधिकार सुस्पष्ट रूप से विभाजित होता था। मूल *थल* पर विभिन्न हिस्सों के रूप में *जत्था* का अधिकार होता था। *जत्था* में सामूहिक तौर पर *थल* के पहले स्वामी के वंशज शामिल होते थे। एक सामूहिक इकाई के रूप में *जत्था* का कोई उत्तराधिकारी नहीं बचता था तो हिंदू विधान के स्वामित्व संबंधी नियमों के अनुसार ज़मीन उसके संबंधियों के बीच वितरित कर दी जाती थी। सरकार के देय के भुगतान करने का उत्तरदायित्व *जत्था* के प्रत्येक व्यक्तिगत सदस्य पर होता था, हालांकि सरकार को यह भुगतान *जत्था* द्वारा सामूहिक रूप से किया जाता था। अपने पैतृक अधिकार को बेचना आसान काम नहीं था और बहुत आवश्यक होने पर ही इसकी अनुमति मिलती थी। ग्रामीण समुदाय के अनुमोदन के बिना बिक्री संभव नहीं थी। *जत्था* के सदस्य एक दूसरे से संबंधित होते थे और उन्हें *घर भाऊ* ('गृह भाई') कहा जाता था। ज़मीन के खरीददार या *जत्था* के नये सदस्य को *बिरादर भाऊ* ('गाँव के भाई') कहते थे। उन्हें मूल मालिक की जिम्मेदारियों को पूरा करना पड़ता था। *मिरासदार* सरकार को *स्वास्तिधारा* नामक स्थाई लगान दिया करते थे पर इसके साथ समय-समय पर *मिरासपत्ती* जैसे अन्य उपकर भी लगाए जाते थे। अगर किसी परिवार का कोई व्यक्ति बचा न होता था तो यह हिस्सा सामूहिक ग्रामीण अधिकार में चला जाता था। *गटकुल* या गाँव की खाली ज़मीन ग्रामीण समुदाय या *पाटिल* (गाँव का मुखिया) के पास रहती थी।

मिरास अधिकार की मुख्य विशेषताएँ

मिरासदार ज़रूरत पड़ने पर कभी भी अपनी ज़मीन बेच सकता था। खरीददार बाहरी व्यक्ति भी हो सकता था और उसके लिए खरीदे हुए स्थान पर बसने का कोई प्रतिबंध नहीं था। खरीदी गई भूमि पर वह अपने परिवार के किसी भी सदस्य के रहने की व्यवस्था कर सकता था। *मिरास* भूमि को खरीदने और बेचने के लिए ग्रामीण अधिकारियों और पड़ोसियों का अनुमोदन या मंजूरी लेनी पड़ती थी। राज्य की पूर्व अनुमति के बिना भी ज़मीन बेची जा सकती थी यह इस तथ्य को पुष्ट करता है कि *मिरास* भूमि पर राज्य का मालिकाना अधिकार नहीं था। राज्य को राजस्व का भुगतान कर खरीददार भूमि का उपयोग कर सकता था। राज्य एक दस्तोवज जारी कर विक्रय को अनुमोदित कर देता था, इसके लिए वह विक्रय मूल्य का एक चौथाई शुल्क के रूप में वसूल करता था।

मिरास भूमि पर *मिरासदार* का पूर्ण निजी मालिकाना अधिकार होता था। राज्य *मिरासी* अधिकार का अधिग्रहण नहीं कर सकता था। इसके अलावा मुखिया या गाँव के अन्य लोग भी *मिरासी* अधिकारों में दखल नहीं दे सकते थे। हालांकि, अगर राज्य चाहता था तो इस *मिरासी* भूमि को गृह स्थान में परिवर्तित कर सकता था, इसके लिए उसे *मिरासदारों* को *गटकुल* भूमि के रूप में मुआवजा देना पड़ता था। *मिरासी* अधिकार के अस्तित्व के कारण गाँव और *देश* की सामूहिक कार्य प्रणाली सुनिश्चित होती थी।

इनाम भूमि

इनाम मूलतः एक अरबी शब्द है, जिसका अर्थ उपहार या पुरस्कार होता है। समग्रता में इसका तात्पर्य केवल *इनाम, इनाम* गाँव या *इनाम* भूमि से होता था। मात्र *इनाम* का अर्थ होता था कि एक व्यक्ति को किसी गाँव के राजस्व का खास हिस्सा प्राप्त होगा। किसी व्यक्ति या पदाधिकारी को *इनाम* गाँव अनुवांशिक आधार पर प्रदान किया जाता था।

यहाँ हम *इनाम* की चर्चा भूमि अधिकार के एक प्रकार के रूप में करेंगे। *इनाम* भूमि या तो पूरी तरह राजस्व मुक्त होती थी या इस पर कम दर पर *इनाम पट्टी* कर लगाया जाता था। यह भूमि अधिकार का एक विशेषाधिकार रूप था। *इनाम* विभिन्न प्रकार के लोगों को दिया जाता था, मसलन अनुवांशिक ग्रामीण पदाधिकारी, राज्य के पदाधिकारी, मन्दिर और *बलूतेदार* (पुजारी)। इसे प्राप्त करने वाले को *इनामदार* कहा जाता था। *इनामदार* दो प्रकार के होते थेः निवासी और प्रवासी/अनुपस्थित-*इनामदार* आनिवासी। इस तथ्य के पर्याप्त प्रमाण हैं कि ये आवंटन अनुवांशिक हुआ करते थे। *वतनदारों* (अनुवांशिक ग्रामीण पदाधिकारी) द्वारा गृहीत *इनाम* भूमि को पद (office) या *वतन* के साथ बेचा या हस्तांतरित भी किया जा सकता था। हालांकि निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि *इनाम* भूमि और *वतन* को अलग-अलग बेचा या स्थानान्तरित किया जा सकता था। यह भी स्थापित तथ्य नहीं है कि मन्दिरों, मठों, आदि संस्थाओं द्वारा गृहीत *इनाम* भूमि को बिना किसी असुविधा के बेचा जा सकता था या नहीं।

राज्य की भूमि (राजा की भूमि)

सरकार द्वारा सामूहिक इकाई के रूप में या पेशवा शासक द्वारा गृहीत भूमि को राज्य भूमि का दर्जा किया जाता था। हालांकि इनके बीच भी कुछ अंतर होता था। दक्खन के कई गाँवों में भी राज्य भूमि होती थी जिसका प्रबंधन स्थानीय नौकरशाही किया करती थी। केन्द्रीय सरकार की अनुमति लेकर वे इसे बेच भी सकते थे। यह भूमि *इनाम* के रूप में अनुदानित की जाती थी या गृह स्थानों के रूप में इन्हें विकसित किया जाता था।

बंजर भूमि या लुप्त परिवारों की भूमि

मिरासी और *इनाम* अधिकार में एक स्पष्टता है, हालांकि नष्ट या समाप्त हुए परिवारों की भूमि या बंजर भूमि के संबंध में काफी अस्पष्टता बनी हुई है। इस भूमि को गाँव का मुखिया या ग्रामीण सभा या राज्य बेच सकता था। समाप्त हो गए परिवारों की भूमि को *गटकुल जमीन* कहते थे। जिन ज़मीनों पर बहुत समय से खेती नहीं हुई होती थी उन्हें *पाद ज़मीन* कहते थे। यहाँ तक कि *मिरासी* भूमि में भी *पद ज़मीन* होती थी। हम उन ज़मीनों पर भी विचार करेंगे जिसके मालिक के न रहने के कारण

वह बंजर हो गई हो। *गटकुल ज़मीन* और *ज़मीन* दोनों का तात्पर्य बंजर ज़मीन से है। राज्य की बंजर भूमि को *खालिसा पद ज़मीन* कहते थे।

बंजर भूमि को गाँव का मुखिया, स्थानीय ग्रामीण सभा और सरकार अधिग्रहीत कर सकती थी और बेच सकती थी। गाँव के मुखिया द्वारा अधिग्रहित ज़मीन को *मिरास* भूमि माना जाता था और उस पर राजस्व लगाया जाता था। स्थानीय ग्रामीण सभा की अनुमति लेकर गाँव का मुखिया समाप्त हुए परिवार का घर और गृह स्थान अधिग्रहित कर सकता था। हालांकि आमतौर पर इसमें बहुत लाभ नहीं होता था। इस प्रकार की अधिग्रहित भूमि पर बटाई के आधार पर *उपरि* द्वारा खेती की जाती थी और इन पर उच्च और निर्धारित भू-राजस्व लगाया जाता था, केवल फसल नष्ट होने पर ही इसमें छूट दी जाती थी। हालांकि इस प्रकार के अधिग्रहण से मुखिया की सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ती थी पर यह बहुत लाभप्रद नहीं होता था। इसके अलावा मुखिया अपनी इच्छानुसार इस ज़मीन को बेच भी नहीं सकता था।

स्थानीय सभा बंजर भूमि को *मिरास* या *इनाम* भूमि के रूप में बेच देती थी। *इनाम* के रूप में खरीदी गई बंजर भूमि पर खरीददार (*इनामदार*) को भूमि कर नहीं देना पड़ता था। हालांकि बेची गई बड़ी *इनाम* भूमि पर एक समूह के रूप में गाँव को भूमि कर देना पड़ता था। *मिरास* भूमि के रूप में बेची गई बंजर भूमि पर नये बंजर भूमि पर नये खरीददार को भारी भूमि कर देना पड़ता था।

मुखिया के निवेदन पर सरकार मुआवजे के रूप में *मिरासदारों* को बंजर भूमि प्रदान करती थी। गाँव के रिहाइशी इलाके के नजदीक की अधिग्रहित *मिरासी* भूमि पर घर बनाये जाते थे। कृषि को बढ़ावा देने के लिए अधिकारियों और अनुवांशिक पदाधिकारियों को बंजर भूमि प्रदान की जाती थी। राजा या पेशवा को भी अनुदान के रूप में बंजर भूमि दी जाती थी। ऐसी बंजर भूमि जिसे न तो मुखिया अधिग्रहित करता था और न ही स्थानीय सभा इसमें रुचि लेती थी, इसे सरकार अपने अधिकार में ले लेती थी। सरकार यह ज़मीन पुजारियों, राज्य पदाधिकारियों, मंदिरों, मस्जिदों, अनुवांशिक पदाधिकारियों, आदि को *इनाम* भूमि के रूप में अनुदान दे देती थी। इस प्रकार सरकार राज्य के खर्चे में भी कटौती करती थी और राज्य के प्रति प्राप्तकर्ता की निष्ठा भी हासिल करती थी।

बोध प्रश्न-6

1) मध्यकालीन दक्खनी गाँवों की मुख्य विशेषताएँ क्या थीं?

.....

.....

.....

2) दक्खन में भूमि स्वामित्व संबंधी आधुनिक सिद्धांतों पर संक्षेप में विचार कीजिए।

.....

.....

.....

3) दक्खन में भूमि अधिकारों के चार प्रकारों की सूची बनाइए।

.....

.....

.....

14.7.4 ग्रामीण समुदाय

ग्रामीण समुदाय भूमि अनुवांशिकता के सिद्धांत पर आधारित था। यह सिद्धांत संयुक्त संपत्ति संबंधी प्राचीन हिन्दू व्यवस्था से गृहीत है। गाँव के मुखिया, लेखापाल, कारीगर, भूमिधारियों, आदि से मिलकर ग्रामीण समुदाय बनता था। कुछ स्वायत्त ग्रामीण इकाइयों को मिलाकर बड़ी क्षेत्रीय इकाइयाँ बनती थीं, इन्हें *नायकवाड़ी* या *स्थल* (मुसलमान पूर्व काल में) कहते थे। यह *नायक* नामक एक पदाधिकारी के जिम्मे होता था जिसका काम राजस्व वसूल करने में गाँव के मुखिया की सहायता करना और स्थानीय सैन्य दल को नेतृत्व प्रदान करना होता था। लगभग 84 या उससे अधिक गाँवों को मिलाकर

एक प्रशासनिक इकाई *परगना* या *देश* बनता था जिसका सर्वोच्च अधिकारी *देखमुख* होता था। ये बड़ी क्षेत्रीय इकाइयाँ गाँवों और शासक के बीच कड़ी का काम करती थीं। *सरदेसाई* और *सरदेशमुख* (*देखमुख* और *देसाईयों* से ऊपर) गाँवों और शासक के बीच की एक और कड़ी थी। व्यापारिक केंद्र से युक्त गाँव को *कस्बा* कहते थे। गाँव और *देश* की सामूहिक इकाई को *गोत* कहते थे। इसका संबंध संस्कृत शब्द *गोत्र* से है जिसका अर्थ परिवार होता है। क्षेत्रीय इकाइयों के रूप में गाँवों और *परगनों* का संघटन ग्रामीण समुदायों के प्राचीन रीति-रिवाजों पर आधारित था। यह इकाइयाँ राजनैतिक परिवर्तनों से अप्रभावित रहीं।

विभिन्न दृष्टिकोण

भारतीय ग्रामीण समुदाय की प्रकृति से संबंधित 19वीं शताब्दी के सामाजिक-आर्थिक लेखन से दो सिद्धांत सामने आते हैं। पहला सिद्धांत कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित है। यह अंग्रेज प्रशासकों की दो पुस्तकों पर आधारित (उदाहरणार्थ, भारत के प्रभारी गवर्नर जनरल, सी. टी. मेटकाफ़ जो कि भारतीय ग्रामीण समुदाय को गतिहीन मानते हैं) है। मार्क्स ग्रामीण समुदाय को 'आत्म निर्भर' और अपरिवर्तनीय मानते थे जिसका श्रम विभाजन मुख्य आधार था। बेडेन पावेल और अन्य लोगों ने पुजारी, नाई, मुखिया, आदि व्यक्तियों को ग्रामीण सेवक के रूप में माना है। कार्ल मार्क्स के अनुसार पूरा समुदाय इन सेवकों का भरण-पोषण करता था। बेडेन पावेल की कृति *इंडियन विपेज कम्यूनिटी* (1896) को आधार बनाकर मैक्स वेबर कहते हैं कि ग्रामीण सेवकों को ग्रामीण समुदाय को प्रदान की गई सेवा के बदले भूमि या फसल में हिस्सा मिलता था या नगद राशि मिलती थी। मार्क्स और वेबर भारतीय समाज की इस 'अपरिवर्तनीयता' का कारण 'आर्थिक आत्मनिर्भरता' और 'जाति व्यवस्था' और 'चमत्कारिक परम्परावाद' में ढूँढते हैं।

एस. एन. सेन और ए. एस. आलतेकर जैसे इतिहासकारों के दृष्टिकोण भी मार्क्स और वेबर से मेल खाते हैं। दोनों इस बात पर सहमत है कि पूरा गाँव एक इकाई के रूप में ग्रामीण सेवकों से काम लेता था। एस. एन. सेन स्पष्ट रूप से ग्रामीण सेवकों के रोजगार को अनुवांशिक प्रकृति का मानते हैं।

इस सिद्धांत को नकारते हुए ग्रामीण भारत और छोटे समुदायों पर लिखते हुए समाजशास्त्रियों और मानवशास्त्रियों ने ***जजमानी*** सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। इसके पहले प्रवर्तक एक अमेरिकी ईसाई मिशनरी डब्ल्यू. एच. वाइज़र थे। उनके अनुसार परा-ग्रामीण स्तर पर प्रभावशाली जाति के कुछ परिवार (संरक्षक; patron) अनुवांशिक आधार पर ग्रामीण सेवकों की सेवा ग्रहण करते थे। टी. ओ. बाइडलमैन *जजमानी* व्यवस्था को सामन्ती व्यवस्था के रूप में व्याख्यायित करते हैं जिसमें उसी क्षेत्र की विभिन्न जातियों के दो या उससे अधिक परिवारों के बीच सेवा प्रदान करने और भुगतान का अनुवांशिक संबंध होता था। एक प्रमुख समाजशास्त्री एम. एन. श्रीनिवास इस *जजमानी* अवधारणा को स्वीकार नहीं करते हैं। वे अनुवांशिक सेवा के तत्व और खास परिवारों के बीच संबंध के विचारों को उदारहण देकर अस्वीकृत करते हैं।

कृषक

अंग्रेज प्रशासकों की रिपोर्ट के साथ-साथ स्थानीय मराठी दस्तावेज भी दक्खन में मौजूद किसानों की कोटियों और भूमि अधिकारों की प्रकृति पर प्रकाश डालते हैं। इन दस्तावेजों में किसानों के लिए *रैय्यत, लोक, प्रजा, कुल* या *कुनबी* जैसे अनेक शब्द उपयोग में लाए गए हैं। गाँव की भूमि किसानों या खेतिहरों के पास होती थी। उन्हें मुख्य रूप से दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता हैः क) *मिरासदार* और ख) *उपरि*।

मिरासदार (*मिरास* या *थलकरी*) आमतौर पर भूमिधर तथा मालिक खेतिहार (मुक्त अधिग्रही) होता था। *उपरि* भूमि धारक की स्वीकृति से कृषि करने के लिए उसकी इच्छा का काश्तकार होता था। उसका गाँव में कोई स्थाई आधार नहीं होता था और वह या तो *मिरासदार* का या फिर सरकार (18वीं शताब्दी के उतरार्द्ध के बाद) के खेत जोतता था। ये खेत *उपरि* या भूमि पर *उक्ति* अधिकार वाले काश्तकारों के पास होते थे। यह एक प्रकार से भूमि को पट्टे पर देने जैसा था, जिसमें एक साल के लिए मौखिक समझौता होता था जिसमें किराए की दर निर्धारित नहीं होती थी।

आसामी पट्टेदार कृषक *कौल* (समझौता)-*इस्तवा* (भूमि) अधिकार पर भी जमीन अपने पास रखता था। यह एक प्रकार का ठेके पर आधारित समझौता (5, 7, या 9 वर्षों के लिए) होता था जिसकी सहायता से कृषकों को बंजर भूमि पर खेती करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था। *देशमुख कौल-इस्तवा* जारी करता था, उसे बंजर भूमि पर कमीशन मिलती थी। बड़ी *इनाम* भूमि पर *उपरि बटाई* के आधार पर खेती करते थे। कभी-कभी *मिरासदार इनाम* भूमि के आसामी भी होते थे। अनुपस्थित *इनामदार* अपने एजेन्ट या गाँव के प्रधान के माध्यम से अपना हिस्सा नगद में ग्रहण कर लेता था। निवासी *इनामदार* को वस्तु या अनाज के रूप में लगान दिया जाता था। यह आमतौर पर कुल उत्पादन का आधा हिस्सा होता था।

व्यक्तिगत तौर पर किसान और अनुवांशिक ग्रामीण पदाधिकारियों को *मिरास* भूमि दी जाती थी जिस पर भूमि कर लगाया जाता था। यहाँ तक कि फसल नष्ट होने पर भी उन्हें सरकार को पूर्व-निश्चित भूमि कर देना पड़ता था, इसके कारण *मिरासदार* और गाँव के मुखिया गाँव से पलायन करने की ओर प्रवृत्त होते थे। *उपरि मिरासदारों* के आसामी हुआ करते थे जो बटाई पर *मिरास* भूमि पर खेती करते थे। अगर उनका मालिक भाग गया होता था तो उन्हें सरकार को लगान देना पड़ता था। यह आमतौर पर कुल उत्पाद का 2/3 हिस्सा होता था। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि *मिरासदार* खेतिहर बन गए और *उपरि* को सरकार ने राज्य और बंजर भूमि पर खेती करने के लिए प्रोत्साहित किया। यह स्पष्ट है कि दक्खन में आसामीवार (किराये पर भूमि लेना) प्रथा बड़े पैमाने पर प्रचलित नहीं थी, ज़मीन की बिक्री बहुत कम होती थी और *उपरियों* ने जल्दी ही भूमि पर बने रहने के अधिकार (occupancy rights) प्राप्त कर लिए।

गोत सभा या *मजलिस*

गोत सभा एक स्वतंत्र निकाय थी जो गाँव या *परगना* के प्रशासनिक, वित्तीय और न्यायिक मामलों की देखरेख करती थी। *परगना* के स्थानीय पदाधिकारियों से मिलकर बने प्रशासनिक निकाय को *दीवान* कहते थे। *गोत* और *दीवान* दोनों ग्रामीण समुदाय द्वारा लाए गए झगड़ों में मध्यस्थ की भूमिका अदा करते थे। *वतनदार* और *बलूतेदार-वतनदार गोत सभा* की बैठक में शामिल होते थे। दक्खन में मुस्लिम शासन ने *मजलिस* व्यवस्था के विकास को बढ़ावा दिया। इसमें *काजी, गोत* और *दीवान* के बीच कड़ी का काम करता था। मामले/मसले की प्रकृति के अनुसार फैसला दिए जाने की परम्परागत व्यवस्था समाप्त कर दी गई। समस्त फैसले *मजलिस* के सदस्यों द्वारा प्रमाणित होते थे। तत्पश्चात् ही वह एक कानूनी दस्तावेज (*महज़र*) बनता था।

14.7.5 वतन व्यवस्था

वतन एक अरबी शब्द है और *वतन* व्यवस्था की शुरुआत दक्खन में मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद हुई। यह सरकार द्वारा गाँव में कार्यरत पदाधिकारी को ग्रामीण समुदाय को सेवाएं प्रदान करने के बदले दिया जाने वाला अनुवांशिक अनुदान था। ये अनुवांशिक ग्रामीण पदाधिकारी गाँव (*देसक*) के स्थाई निवासी होते थे और उन्हें गाँव में प्रशासनिक कार्य सम्पन्न करने के बदले में राज्य, अधिकारों और विशेष छूट के प्रावधानों के साथ भूमि अनुदानित करता था। इन *देसकों को वतनदार, देशमुख, देसाई, देशपाण्डे, कुलकर्णी,* आदि कहते थे। उन्हें सरकार को भू-राजस्व न देने की छूट मिली हुई थी। *स्मृतियों* में *वृत्तियों* का उल्लेख मिलता है जो *वतन* का देशी पर्याय था और *वृत्तियों* के धारकों द्वारा प्राप्त पारिश्रमिक को ***निबंध*** कहा जाता था। *वतनदारों* को मिली भू-राजस्व से मुक्त भूमि को *इनाम* कहते थे।

गाँव का प्रमुख अनुवांशिक अधिकारी *पटेल* होता था, समकालीन मराठी दस्तावेजों में उसे *गावा पटेल* या *मोकद्दम पटेल* भी कहा गया है। राजस्व वसूल करना और केन्द्र का हिस्सा राजकोष तक पहुंचाना *पटेल* की प्रमुख जिम्मेदारी थी। गाँव के मुखिया के रूप में वह गाँव में कई प्रकार के प्रशासनिक कर्तव्य सम्पन्न करता था। इसके बदले में उसे कुछ विशेषाधिकार (*हक*) और अनुलाभ (*लाज़िम*) प्राप्त होते थे जिसका उल्लेख *वतन*-वचन पत्र में होता था। उसे *हक* एक अधिकार के रूप में (कानूनी अनुदान) प्रदान किया जाता था। इसके अंतर्गत राज्य उसे कुल राजस्व वसूली का एक हिस्सा नगद या वस्तु के रूप प्रदान करता था। *लाज़िम* स्वेच्छापूर्ण भुगतान होता था जैसे *फसकी* (कोई भी थोड़ा सा अनाज), *पसोड़ी* (वस्त्र), आदि; *महारों* और कारीगरों से मुफ्त सेवा; वरिष्ठता अधिकार (*मान पान*)

जिसके कारण *पटेल* गाँव के पर्व-त्यौहारों की अध्यक्षता करता था। इसके अतिरिक्त, *पटेल*, अन्य अधिकारी जैसे *कुलकर्णी* और *चौगुल* (*पटेल* का सहायक) को भी उनकी सेवा के बदले अनुलाभ और अधिकार प्राप्त होते थे।

देखमुख और *देशपाण्डे परगना* के अनुवांशिक अधिकारी थे। *देशमुख* प्रधान *पटेल* था। अपनी सेवाओं के बदले उसे उपज में हिस्सा मिलता था और वे ग्रामीण सेवकों, व्यापारियों, आदि से वस्तुएँ और सेवा ग्रहण करते थे। इसके अलावा, गाँव में उनकी ज़मीन भी होती थीं। अपने *परगना* में *देशकुलकर्णी, कुलकर्णियों* के काम का निरीक्षण करते थे। परन्तु वह *देशपाण्डे* का मातहत होता था। पारिश्रमिक के रूप में *देशपाण्डे* को राजस्व मुक्त भूमि के साथ-साथ नगद और वस्तु के रूप में भी भुगतान होता था। यह *देशमुख* को दिए गए हिस्से के मुकाबले आधा होता था।

सेठ और *महाजन कसबा* या *पेठ* (ग्रामीण बाजार) के अनुवांशिक अधिकारी होते थे। उन्हें नगद या वस्तु और भूमि के रूप में पारिश्रमिक मिलता था। कुछ गाँवों को मिलाकर *तरफ* या *करयत* बनता था। यह क्षेत्रीय इकाई *परगना* से छोटी होती थी। इस इकाई का अनुवांशिक पदाधिकारी होता था, जिसे नायक कहते थे। उसका काम किसानों से राजस्व वसूल करना था। बाद में मुस्लिम शासित क्षेत्रों में इस पदाधिकारी का स्थान *हवलदार* ने ले लिया।

देखमुख और *देशपाण्डे ज़मींदार* (*हक्कदार*) हुआ करते थे पर अपने अधिकार क्षेत्र की सभी ज़मीन के वे मालिक नहीं होते थे। वे केवल हताश होकर ही अपनी ज़मीन बेचते थे परन्तु उनके पद के साथ जुड़े अधिकारों और विशेषाधिकारों को अलग से बेचा नहीं जा सकता था। राजनैतिक उथल-पुथल के समय भी उनकी स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता था।

मिरासी और *वतनी* अधिकारों के बीच एक महत्वपूर्ण अन्तर है। *मिरासी* भूमि पर भूमिधारियों को अनुवांशिक स्वामित्व अधिकार प्राप्त था जबकि *वतनी* अधिकार *वतनदारों* के पद और उनके द्वारा प्रदान की गई सेवा से जुड़ा हुआ था और यह हस्तांतरणीय भी था। एक *मिरासदार, वतनदार* भी हो सकता था, पर एक *वतनदार, मिरासदार* भी हो यह आवश्यक नहीं था। हालांकि, *वतनदार* के पास अनुवांशिक आधार पर *इनाम* भूमि रहती थी।

बलूतेदार

महाराष्ट्र के गाँवों में ग्रामीण सेवकों को *बारह बलूते* या *अलूते* कहा जाता था। *बलूतदारों* के संघटन को लेकर विद्वानों के बीच मतभेद है। आमतौर पर इस सूची में शामिल होते थेः बढ़ाई, लुहार, कुम्हार, चर्मकार, रस्सी बनाने वाला, नाई, धोबी, ज्योतिषि, हिंदू पंडित और *महार*। *बारह अलूते* शब्द (ग्रांट डफ, आदि द्वारा उल्लिखित) संभवतः *बलूते* का ही विस्तार था और उनका एक ही अर्थ था। 18वीं शताब्दी के मराठी दस्तावेजों में अलूतों का उल्लेख नहीं मिलता है और इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि वे कभी-कभी ही गाँव में पाए जाते थे। दो प्रकार के *बलूतेदारों* का पता चलता है। *वतन* धारी *बलूता* और अस्थाई अपरिचित (*उपरि*) *बलूता*। प्रथम कोटि के *बलूतों* का अपनी सेवा कर्तव्यों पर अनुवांशिक एकाधिकार था वे पूरे गाँव के सेवक होते थे और ग्रामीणों को व्यक्तिगत तौर पर सेवा प्रदान करते थे। किसान *बलूतेदारों* को तीन प्रकार से भुगतान करते थेः

1) वस्तु या नगद के रूप में जिसे *बलूता* कहा जाता था,

2) अनुलाभों, अधिकारों तथा विशेषाधिकारों के रूप में, नगद या वस्तु के रूप में, तथा

3) राजस्व मुक्त *इनाम* भूमि के रूप में।

यह स्पष्ट नहीं है कि *उपरि बलूता* को भी अनुलाभ प्राप्त होते थे या नहीं। *इनाम* भूमि के बारे में आश्वस्त होकर कहा जा सकता है कि केवल *वतन धारी बलूतों* को ये भूमि रखने का अधिकार था। *बलूता वतन* पूरे गाँव की अनुमति के बिना हस्तांतरित, विभाजित या बेची जा सकती थी, परन्तु इस प्रकार के लेन-देन में ग्रामीण सभा का अनुमोदन आवश्यक होता था।

बलूता वतन के विभाजन का मतलब पारिश्रमिक का विभाजन होता था, सेवा कर्त्तव्यों का नहीं। पारिश्रमिक की राशि में बढ़ोतरी नहीं होती थी अतः इस प्रथा को हतोत्साहित नहीं किया जाता था। *बलूते* किसी एक खास परिवार के नहीं बल्कि पूरे गाँव के सेवक होते थे।

बलूते आमतौर पर विभिन्न रोजगार आधारित जातियों से संबंध रखते थे। पुजारी और लेखापाल ब्राह्मण होते थे। पुजारी के पास कोई *वतन* नहीं होता था। हिंदू अनुष्ठानों और कर्मकांडों की खास प्रकृति के कारण उनका कार्य कुछ जातियों और परिवारों तक ही सीमित था। ये परिवार (*जजमान*) पुजारी के स्थाई या अस्थाई ग्राहक होते थे। अतः *जजमानी* सिद्धांत पुजारी पर तो लागू होता है पर यह *बारह बलूतों* पर लागू नहीं होता। अंतिम विश्लेषण के रूप में यह कहा जा सकता है कि गाँव एक इकाई के रूप में *वतनदारों* और *बलूतेदारों* की देखभाल करता था और उन पर नियंत्रण रखता था।

सामंतवाद

परगना और ग्रामीण समुदाय एक ऊर्ध्व स्तरीय विन्यास संरचना का प्रतिनिधित्व करता था, जबकि संरचनात्मक रूप में जाति क्षैतिज थी और उसकी प्रकृति परा-ग्रामीण होती है। जाति गाँव और *परगना* का एक महत्वपूर्ण हिस्सा थी। इसमें एक जनजातीय संरचना भी थी जिसके कारण इसकी प्रकृति घुमंतु और युद्धप्रिय हो गई थी। इस प्रकार मध्यकालीन दक्खनी स्थानीय समाज की सामुदायिक संरचना बहुतत्ववादी थी, परन्तु यह ऊर्ध्व रूप में या क्षैतिज रूप में स्तरीकृत था। इससे हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भारतीय ग्रामीण समुदाय आत्मनिर्भर और एकाकी नहीं थे, बल्कि पड़ोसी गाँव से भी इनका संबंध था। *वतन* व्यवस्था सामुदायिक संरचना की कार्यपद्धति को नियंत्रित करती थी। यह ग्रामीण समुदाय में किसानों और कारीगरों के बीच श्रमशक्ति के विभाजन का प्रतिनिधित्व करती थी। स्थानीय समाज में उत्पादकता के बढ़ने से अधिशेष जमा होने लगा जिसे सामुदायिक सरदारों के अनुलाभों में बदल दिया गया। एक ऐसे समाज में जहाँ काफी मात्रा में ज़मीन उपलब्ध थी, भूमि स्वामित्व पर आधारित एक व्यवस्था उभर कर नहीं आ सकी। इसके बदले किसान भू-स्वामी सामुदायिक सरदार बन गये और वे ही ग्रामीण शासकीय वर्ग में परिवर्तित हो गये जिन्होंने 16वीं शताब्दी के अंत तक शोषक की भूमिका निभानी आरंभ कर दी। इस समय *वतन* को प्राप्तकर्ताओं की निजी संपत्ति समझा जाता था। इस काल के दौरान इसे अलग से और मुक्त रूप से बेचा गया। ग्रामीण शासकीय वर्ग के अनुलाभ राज्य की राजनैतिक संरचना में मिला लिए गए और उन्हें बलपूर्वक वसूलने के अधिकार में बदल दिया गया। फुकाज़ावा जैसे इतिहासकार इस प्रवृत्ति को नीचे से बढ़ते सामंतवाद के रूप में देखते हैं। हालांकि मध्यकालीन यूरोप की तरह यहाँ किसानों और शासकीय ग्रामीण वर्ग के बीच का वर्ग संबंध मालिक-दास का संबंध नहीं था पर उन्हें सामुदायिक आधारित कृषि संबंध की संज्ञा दी जा सकती है। मध्यकालीन दक्खन के संदर्भ में किसान सीधे तौर पर उत्पादक थे, जिनके पास उत्पादन के साधन होते थे और एक कृषक परिवार उन साधनों से खेती करता था। सामुदायिक सरदार बाद में स्थानीय समाज के शोषक वर्ग बन गए परन्तु वे ज़मीन के मालिक या सामंत नहीं बन पाए क्योंकि उस समय ज़मीन इतनी अधिक थी कि समाज में भू-स्वामित्व कोई महत्वपूर्ण मुद्दा नहीं था। वे किसानों और कारीगरों द्वारा उत्पादित अधिशेष पर कब्जा जमाने में ही रुचि रखते थे। इस प्रकार के समाज में समुदाय ही सर्वोच्च था और ग्रामीण शासकीय समूह किसानों पर न्यायिक अधिकारों का एकाधिकार स्थापित नहीं कर सकता था।

परगना और गाँवों से राजस्व वसूल करने के लिए राज्य पदाधिकारियों को दिए गए *जागीर* और *सरऊंजम* (*मोकासा*) अनुदान को ऊपर से लादे गए सामंतवाद के रूप में देखा जाता है। परन्तु मध्यकालीन दक्खन की स्थिति की विशेषता को देखते हुए, इस शब्द का प्रयोग सावधानीपूर्वक करना चाहिए।

बोध प्रश्न-7

1) भारतीय ग्रामीण समुदाय की प्रकृति से संबंधित दो दृष्टिकोणों की संक्षिप्त में चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

2) मध्यकालीन दक्खन में मौजूद किसानों की दो कोटियों की सूची बनाइए।

.....

.....

.....

3) '*वतन* व्यवस्था' से आप क्या समझते हैं? इसकी मुख्य विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

14.8 कृषि संरचनाः दक्षिण भारत

इस भाग में हम दक्षिण भारत की ग्राम संरचना और भूमि अधिकारों की चर्चा करेंगे।

14.8.1 ग्राम संरचना और कृषि संबंध

17वीं-18वीं शताब्दियों में ब्रिटिश प्रशासकों द्वारा दक्षिण भारत के भूमि अधिकारों पर रिपोर्टें तैयार की गई थीं। प्रस्तर अभिलेख और स्थानीय ग्राम्य दस्तावेज़ (*कैफियत*), मैरेन्ज़ी संग्रह में संग्रहित ताड़-पत्रों पर लिखित ग्राम्य स्तर पर जारी अध्यादेश, ईसाई मिशनरी दस्तावेज़, विदेशी यात्रियों के वृत्तांत, आदि ऐसे विभिन्न स्रोत हैं, जो दक्षिण भारत की भू-व्यवस्था पर प्रकाश डालते हैं।

अंग्रेज़ पदाधिकारियों की रिपोर्टों में दक्षिण भारतीय गाँवों में भूमि पर सामूहिक स्वामित्व का उल्लेख मिलता है। आधुनिक काल के पहले भू-स्वामित्व और कृषि, उत्पादन का मुख्य आधार था। दक्षिण भारत में दो प्रकार के गाँव थेः *ब्रह्मदेय* और गैर-*ब्रह्मदेय*। शासकों द्वारा ब्राह्मणों को अनुदानित भूमि को *ब्रह्मदेय* कहा जाता था। इन गाँवों में ब्राह्मणों ने सामूहिक स्वशासी निकाय *सभा* की स्थापना की थी। पल्लव और चोल काल में ये गाँव सबसे ज़्यादा प्रतिष्ठित थे। गैर-*ब्रह्मदेय* गाँव अधिक पुरातन थे और इनकी संख्या *ब्रह्मदेय* गाँवों से ज़्यादा थी। काल विशेष और स्थान के अभिलेखों के अध्ययन से कुछ मुद्दे उभर कर आते हैंः

1) *ब्रह्मदेय* गाँवों में व्यक्तिगत स्वामित्व (बड़े भूमिपतियों के पास कई गाँव होते थे) था और गैर-*ब्रह्मदेय* गाँवों में *उरार* (किसानों) के बीच सामुदायिक भू-स्वामित्व था;
2) *उर गैर-ब्रह्मदेय* गाँवों की सभा को कहते थे;
3) विजयनगर काल में भू-अधिकार की दृष्टि से गाँव प्राथमिक इकाई थी;
4) चोल काल में मुख्य इकाई *नाडु* (स्थान) था जिसे *नट्टार* तथा *ओक्कुल* (कर्नाटक में) भी कहते थे। विजयनगर साम्राज्य में गाँव प्राथमिक इकाई हो गई;
5) *सभा, उर* और *नट्टार* जैसे स्वशासी निकायों का पतन हुआ और बाद में विजयनगर काल में ये लुप्त हो गए और इनका स्थान *नायक* या स्वतंत्र शासकों ने ले लिया।

ग्रामीण सेवकों (*आयगारों*) को *मान्या* या राजस्व मुक्त भूमि या कम लगान की भूमि मिलती थी। ब्राह्मणों और मन्दिरों के भूमि अनुदान को क्रमशः *एकोभोगम्* और *देवदान* कहते थे। कृषि में निवेश करने के कारण बढ़ी उत्पादकता से प्राप्त निजी अधिकार (आय अंश) को कर्नाटक में *दसवंदा* या *कटटू कोडगे* कहते थे। 16वीं शताब्दी में भूमि स्वामित्व व्यवस्था और कृषि संरचना में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। विजयनगर के सैनिक प्रधान (*नायक*) तमिल गाँवों के स्थानीय वंश आधारित समाजों में हस्तक्षेप करने लगे। तमिल क्षेत्र में काफ़ी समय से मन्दिर एक स्वायत्त भू-स्वामी और सामूहिक संस्था के रूप में कार्य कर रहे थे। विजयनगर के शासकों ने मन्दिरों का प्रबंधन अपने पास ले लिया। मन्दिरों की भूमि को ठेके की भूमि में बदलने के कारण कृषि अर्थव्यवस्था में काफ़ी परिवर्तन आ गया। इस ठेके की भूमि पर अधिकार करके ये शासक कृषि व्यवस्था की धुरी बन गये।

14.8.2 भू-अधिकारों की प्रकृति

ग्रामीण समाज में मौजूद कृषि अधिकारों (*कनियात्छी*) के विभिन्न प्रकारों पर विचार करने से *नायकों* और किसानों के आपसी संबंधों पर प्रकाश पड़ेगा। किसानों द्वारा अधिशेष उत्पादन और तेलुगु *नायकों* द्वारा सफलतापूर्वक उसकी वसूली विजयनगर राज्य की शक्ति का आधार था। तमिल ग्रामीण प्रदेश के शुष्क मैदानी क्षेत्रों में *थोट्टियन, पान्टा, रेड्डी, नायडू* और *कम्बलट्टार,* जैसी योद्धा प्रजातियाँ बसी हुई थीं। परम्परागत तमिल कृषक संभ्रांतों तथा उनके समूहों जैसे *नट्टावर* (ग्राम) एवं *उरवै* (कृषक

बस्तियाँ) का स्थान तेलुगु भाषी समुदायों ने ले लिया जिन्होंने इस क्षेत्र को परिधीय क्षेत्र में परिवर्तित कर दिया।

योद्धा-प्रधानों ने अपेक्षाकृत आबादी वाले कोंगू क्षेत्रों में गहन खेती कर कृषि विकास को प्रोत्साहित किया। कोंगू की काली मिटटी वाले इलाकों में तालाब सिंचाई व्यवस्था उपलब्ध कराई गई और गन्ने जैसी नगदी फसलों को बढ़ावा दिया गया।

15वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मन्दिर भूमि (*देवदान*) को योद्धा-प्रधानों की अर्ध निजी भूमि सम्पदा (*कनिपरू*) के रूप में परिवर्तित किया। 1511 सी ई के एक अभिलेख में मन्दिर के भूमि अधिकारों की कृषि बस्ती (*तिरूनामथुक्कनी*) को एक योद्धा प्रधान के *कनिपरु* में परिवर्तित करने का उल्लेख मिलता है। कृषि करने के अधिकार के साथ-साथ कर आरोपित करने का अधिकार भी अनुदानग्रही को मिल गया। 16वीं शताब्दी के भूमि संबंधी इन लेन-देनों में कई भूमि संबंधी और वित्तीय अधिकार समाहित थे। *उरावर* और *नट्टार* जैसे परम्परागत किसान संभ्रांतों और उर जैसी किसान सभाओं का स्थान *नायकों* द्वारा निर्मित सक्रिय और विस्तारित कृषि राजनैतिक संरचना ने ले लिया।

नायकों ने इस काल में कई शहर और किलेबंद बस्तियाँ बसाईं, जिन्होंने राजनैतिक और आर्थिक केन्द्रों के रूप में कार्य किया। कावेरी डेल्टा में उनकी अनुपस्थिति सुस्पष्ट है। योद्धा-प्रधानों द्वारा अधिगृहित *पलैयन* वह भूमि थी जहाँ *नायकों* द्वारा स्थापित राजनैतिक और आर्थिक संरचना में किसानों, कारीगरों और व्यापारियों को समाहित कर लिया गया। वे किसानों और कारीगरों से क्रमशः *कुदानाइ* (स्थानीय कर) और *सित्तयम* वसूल करते थे।

नायकों के भूमिधारण अधिकार को *कनिपरू* के नाम से जाना जाता था। यह संभवतः भूमि संबंधी अधिकार की ओर इशारा करता था अर्थात् इसके अंतर्गत स्वामित्व के पूर्ण अधिकार के बिना भूमि की खरीद-बिक्री की जा सकती थी। इसमें कई प्रकार के करों का भी उल्लेख है। 1522 सी ई में एक अभिलेख में मन्दिर भूमि और इसके अधिकारों को *नायकों* को हस्तांतरित किए जाने का उल्लेख मिलता है। ये अधिकार निम्नलिखित थेः

1) किसानों से कर वसूलना,
2) खेती करवाना और लोगों को बसाना, और
3) मन्दिर से *प्रसादम्* (पवित्र भोजन) ग्रहण करना।

नायकों को भूमि के हस्तांतरण का अर्थ भू-स्वामित्व का हस्तांतरण नहीं था। *नायक* भूमि का उपयोग कर सकते थे और कर वसूल कर सकते थे परन्तु अभी भी स्वामित्व संबंधी अधिकार मन्दिरों के पास सुरक्षित था।

कनिपरू योद्धा-प्रधानों और मन्दिरों के बीच एक सशर्त और संविदागत पट्टेदारी या समझौता था। स्वामित्व मन्दिरों के पास रहता था और मन्दिरों को नगद या वस्तु में भुगतान करना *नायकों* का उत्तरदायित्व होता था।

भूमि के हस्तांतरण से किसानों को अपनी ज़मीन नहीं छोड़नी होती थी। अपने हिस्से की ज़मीन (*करई*) उनके पास ही रहती थी। किसानों को मन्दिर भूमि के हस्तांतरण के मामले में किसान नेता (*मुदाली*) खेती का जिम्मा अपने ऊपर ले लेते थे। वे मन्दिर को *वडवथी* (नज़राना) प्रदान करते थे। इस प्रकार के किसान भूमि अधिकार को *कुडिनिंग देवदानम्* कहते थे। इस प्रकार के गाँवों के किसानों का भूमि में स्थाई हिस्सा होता था और उन्हें कोई बेदखल नहीं कर सकता था।

करों की दर ऊँची थी। इसके अलावा किसानों पर सिंचाई व्यवस्था बनाए रखने के लिए दबाव डाला जाता था। कृषि असंतोष बढ़ने लगा पर कोंगू इलाके में भूमि की उपलब्धता के कारण इसे रोक कर रखा जा सका। बाद में 17वीं शताब्दी में जब यह क्षेत्र (सीमा) अवरूद्ध हो गया तो असंतोष बढ़ने लगा। यह विजयनगर *नायकों* की कृषि नीति का परिणाम था।

नायकों और संस्थाओं के अलावा व्यक्तिगत तौर पर भी भूमि लोगों को पट्टे पर दी गई। इस पट्टे में घर, सिंचित और शुष्क भूमि शामिल होती थी। कई मामलों में, पट्टेदार के वंशजों को इसे बेचने, गिरवी रखने, आदि का भी अधिकार होता था।

मन्दिरों द्वारा पट्टे पर दी गई भूमि पर केन्द्रीय और स्थानीय सरकारों द्वारा लगाया गया कर पट्टेदार मन्दिरों को ही चुकाता था। मन्दिरों द्वारा पट्टे पर दी गई भूमि कर मुक्त नहीं होती थी। अपने लिए *कदमई* जैसे कुछ कर रखकर पट्टेदारों से लिया गया कर मन्दिर राज्य को सौंप देते थे। पट्टेदारों को खेती करने, ज़मीन को खेती योग्य बनाने और नई ज़मीन पर खेती करने का अधिकार होता था। आमतौर पर पट्टेदार स्वयं खेती नहीं करते थे, वे यह कार्य दूसरों से करवाते थे। वे मन्दिर कोष में नगद या वस्तु के रूप में कर जमा करते थे। खेतिहरों को भी उत्पाद में हिस्सा मिलता था। लगभग सभी पट्टेदार पट्टे वाली भूमि के मालिक होते थे।

मिरासी अधिकार दक्षिण भारत की भूमि व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण हिस्सा था। *मिरासदारों* के पास मणियम नामक कर मुक्त ज़मीन होती थी। उन्हें इन भूमियों से उत्पाद में हिस्सा (*कुपाट्टम*) मिलता था।

कई मामलों में एक गाँव कई *मिरासदारों* के पास होता था। खेतिहारों को *पयकारी* कहा जाता था, वे दो समूहों में विभक्त थेः *उलकुडी* और *परकुडी*। प्रथम गाँव में रहते थे। उनके अधिकार हस्तांतरणीय नहीं थे और उनमें हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता था। *परकुड़ी* भूमिधारी द्वारा दी गई भूमि के आसामी थे, जिन्हें ठेके पर खेती करने का अधिकार मिलता था। *मिरासदारों* द्वारा सरकार को दिए जाने वाले करों को *पन्नू, इराईह, वारि,* आदि नाम से सम्बोधित किया गया है। *मिरासदार* दो प्रकार के होते थेः निवासी और अनिवासी। खेती कराने के लिए *मिरासदार* सरकार और ग्रामीणों के बीच मध्यस्थ की भूमिका निभाते थे।

इस प्रकार, *मिरासी* अधिकार हालांकि अनुवांशिक था, परन्तु यह सब जगह एक समान नहीं था। इसका स्वरूप जगह-जगह पर अलग-अलग था। इसे बिक्री, बंधक या उपहार के द्वारा हस्तांतरित किया जा सकता था।

बोध प्रश्न-8

1) *कनिपरू* अधिकार के स्वरूप की चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

2) दक्षिण भारत में *मिरासी* अधिकार की मुख्य विशेषताएँ क्या थीं?

.....

.....

.....

14.9 सारांश

समकालीन विदेशी पर्यवेक्षक कृषि औज़ारों की पुरातनता और सरलता की बात करते हैं परन्तु यह भारतीय कृषि के अनुकूल था। कृषि मुख्य रूप से वर्षा जल पर निर्भर थी परन्तु कृत्रिम सिंचाई के तरीके भी अपनाए जाते थे। कुओं से पानी निकालने के लिए ढेंकली, *चरस* और *साकिया* (कुएँ से पानी निकालने की ईरानी विधि; Persian Wheel) जैसे तरीकों का उपयोग किया जाता था। तालाब और जलाशयों के अतिरिक्त कुछ सीमा तक नहर सिंचाई के प्रमुख स्रोत थे।

भारतीय किसान कई प्रकार के खाद्यान्न और नगदी फसलें उपजाया करते थे। कुछ खेतों में दो या उससे अधिक फसलें उगाई जाती थीं। फसलों को बदल-बदल कर उपजाना और बाज़ार की आवश्यकताओं के अनुरूप नगदी फसल की खेती करना, इस युग की खास विशेषताएँ हैं। गुणवत्ता और परिमाण दोनों ही मानदण्डों पर इस काल के फल उत्पादन ने उच्च स्तर को प्राप्त किया।

19वीं शताब्दी की आधुनिक उपज और उत्पादन की तुलना में भी उस समय की उत्पादकता और उपज खरी उतरती है। मुगल काल में पशु और पशुधन की प्रति व्यक्ति संख्या भी काफ़ी अच्छी थी।

इस इकाई में हमने निम्नलिखित बातों का भी अध्ययन किया:

- *जागीरदार* राज्य के लिए कृषि अधिशेष का बड़ा हिस्सा वसूल करता था;
- राजस्व प्राप्तकर्ताओं को राज्य की तरफ से राजस्व-मुक्त भूमि अनुदान में दी जाती थी;
- *ज़मींदार* ज़मीन का मालिक हुआ करता था लेकिन उपज पर उसका अनुवांशिक अधिकार होता था। इन अधिकारों को बेचा जा सकता था;
- जब *ज़मींदार* राज्य के लिए राजस्व इकट्ठा करता था तब उसे *नानकार* मिलता था। लेकिन जब राज्य सीधे अपने कर्मचारियों द्वारा राजस्व इकट्ठा करता था तो *ज़मींदार* को मालिकाना हिस्सा दिया करता था। *ज़मींदार* अन्य उप-कर भी वसूल किया करते थे;
- *ज़मींदार* सेना रखते थे;
- *ज़मींदार* हमेशा जाति और गोत्र में बंटे रहे और भारत के शासकीय वर्ग के रूप में नहीं उभर सके;
- गाँव का मुखिया और अन्य पदाधिकारी भी कृषि अधिशेष से अपना हिस्सा ग्रहण करते थे;
- किसान को अपनी उपज का अधिकांश हिस्सा राज्य, *ज़मींदार* और अन्य बिचौलियों को दे देना पड़ता था;
- कृषक वर्ग एक समजातीय समुदाय नहीं था। ये भूमि और आय के आधार पर विभाजित थे। जाति और गोत्र के आधार पर भी वे विभाजित थे;
- भूमिहीन किसान या निम्न जाति से संबद्ध समझे जाने वाले मजदूर ग्रामीण समाज के सबसे सताए हुए लोग थे; और
- *जागीरदारों* और *ज़मींदारों* के बीच हितों का टकराव ज़बरदस्त था। दोनों के बीच के संघर्ष में किसान आमतौर पर *ज़मींदारों* का पक्ष लेते थे और ऐसे झगड़ों में उनका ही सबसे ज़्यादा नुकसान होता था।

इस इकाई में हमने मध्यकालीन दक्खनी गाँवों की विशेषताओं पर भी विचार किया। मध्य कालीन दक्खन में भू-स्वामित्व संबंधी बहस पर एक नज़र डाली गई। इसमें ग्रामीण समुदाय के साथ-साथ, ग्रामीण समुदाय के विभिन्न तत्वों की भी जानकारी दी गई। दक्खन में पाई जाने वाली *वतन* व्यवस्था का विस्तार से विश्लेषण किया गया। इसके साथ-साथ इस इकाई में दक्षिण भारत की भू-व्यवस्था पर भी प्रकाश डाला गया। विभिन्न प्रकार के भू-अधिकारों और इन भू-अधिकारों से उत्पन्न कृषि संबंधों की भी चर्चा की गई।

14.10 शब्दावली

बीघा-ए इलाही यह 60 वर्ग *गज़-ए इलाही* (अकबरी) के बराबर था। *गज़-ए इलाही* की लंबाई लगभग 32 फुट होती थी। एक *बीघा-ए इलाही* लगभग .60 एकड़ के बराबर होता था

नकदी फसलें ऐसी फसलें जो प्रमुखतः बाज़ार में बेचने के उद्देश्य से उगाई जाती थीं, जैसे – गन्ना, कपास, तथा नील, आदि

दस्तूर प्रखंड ऐसा क्षेत्र जिसमें अलग-अलग फसलों के लिए कुछ नगद राजस्व दरें निर्धारित की जाती थीं, पूरा प्रांत विभिन्न दस्तूर प्रखंडों में विभक्त होता था, प्रत्येक दस्तूर में राजस्व दरें अलग होती थीं

दस्तूर दरें विभिन्न फसलों के प्रति इकाई क्षेत्र के लिए नगद राजस्व दरें

आसवन वह प्रक्रिया जिसमें गर्म करके भाप बनाई जाती थी और इस भाप को ठंडा करके तरल पदार्थ प्राप्त किया जाता था

गाँव शिवान	गाँव की भूमि
गटकुल	उस परिवार विशेष की ज़मीन जिसने गाँव विशेष को किसी कारण से छोड़ दिया हो या वह परिवार खत्म हो गया हो
जमा	अनुमानित आय
क्रोह/कुरोह	दूरी नापने के लिए प्रयुक्त; 1 *कुरोह* = 2.5 मील
खरीफ	शरदकालीन फसल
खरक	पशुशाला
कुल घदनी	गाँव का राजस्व रजिस्टर
मन-ए अकबरी	वजन मापने की इकाई जो 55 पाउंड के आसपास होती थी
निबंध	वृत्तियों (*वतन* शब्द का देशज रूप) के धारक द्वारा प्राप्त परिलाभ
पानढरी	ऐसी भूमि जिस पर खेती न की जा सके
हल का फाल	हल का नुकीला निचला हिस्सा जिससे खेत जोता जाता था। यह लोहे या कड़ी लकड़ी का बना होता था
रबी	जाड़े की फसल
रैय्यत	साधारण किसान
थल	परिवार विशेष से संबंधित भूमि
थलज़ादा	गाँव की रिकॉर्ड बही
व्यवहारमयुख	17वीं शताब्दी में नीलकंठ द्वारा हिन्दू विधि-कानून पर रचित ग्रंथ

14.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें उप-भाग 14.2

2) इसमें आप फसलों के बदलाव और विभिन्न प्रकार के उर्वरकों के उपयोग, आदि का उल्लेख कर सकते हैं। देखें उप-भाग 14.3.1

3) आप कम मात्रा में पानी निकालने की विधियों को छोड़कर शेष का उल्लेख कर सकते हैं। देखें उप-भाग 14.3.2

4) देखें उप-भाग 14.3.2

बोध प्रश्न-2

1) देखें उप-भाग 14.4.1

2) बाज़ार के लिए उत्पादित फसल को नगदी फसल कहते थे। खाद्यान्न फसल बाज़ार में भी बेची जाती थी और इनका उपभोग स्वयं के भोजन के लिए भी किया जाता था। तिलहन फसलों से खाद्य तेल निकाला जाता था। देखें उप-भाग 14.4.1, 14.4.2

3) देखें उप-भाग 14.4.2

4) देखें उप-भाग 14.4.3

बोध प्रश्न-3

1) देखें उप-भाग 14.6.1

2) देखें उप-भाग 14.6.1

बोध प्रश्न-4

1) *ज़मींदार* के भू-उत्पाद पर अधिकारों की चर्चा कीजिए। देखें उप-भाग 14.6.2

2) देखें उप-भाग 14.6.2 और 14.6.3

बोध प्रश्न-5

1) खेती, संसाधनों और भूमि संबंधी अधिकारों की प्रकृति के आधार पर किसानों को कई श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। देखें उप-भाग 14.6.4

2) गाँव के लोगों की प्रतिनिधि सभा ग्रामीण समुदाय के रूप में कार्य करती थी। देखें उप-भाग 14.6.5

3) *ज़मींदारों* का अपने इलाके के साथ स्थाई हित जुड़ा हुआ था जबकि *जागीरदारों* का स्थानान्तरण होता रहता था। *जागीरदारों* का उद्देश्य केवल किसानों का शोषण करना होता था जबकि *ज़मींदारों* को भय होता था कि किसान खेत छोड़कर भाग जाएंगे और उनकी आमदनी कम हो जाएगी। देखें उप-भाग 14.6.6

बोध प्रश्न-6

1) देखें उप-भाग 14.7.1

2) देखें उप-भाग 14.7.2

3) देखें उप-भाग 14.7.3

बोध प्रश्न-7

1) देखें उप-भाग 14.7.4

2) देखें उप-भाग 14.7.4

3) देखें उप-भाग 14.7.5

बोध प्रश्न-8

1) देखें उप-भाग 14.8.2

2) देखें उप-भाग 14.87.2

14.12 संदर्भ ग्रंथ

फुकाज़ावा, एच., (1991) *द मिडिवल डेकनः पेज़ेन्ट्स, सोशल सिस्टम्स एंड स्टेट्स, 16 टू 18 सेंचुरी* (दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस).

हबीब, इरफान, *मुगलकालीन भारत की कृषि व्यवस्था, 1556-1707* (हिंदी संस्करण).

मूसवी, शीरीन, (1987) *द इकॉनॉमी ऑफ द मुगल एम्पायर c.1595ः ए स्टेटिस्टीकल स्टडी* (नई दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस).

रे*चौधरी*, तपन और इरफान हबीब, (1982) *द कैम्ब्रिज इकॉनामिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया*, भाग 1 (दिल्लीः कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस).

14.12 शैक्षणिक वीडियो

एग्रीकल्चरल प्रोडक्शन इन मुगल इंडिया-I
https://www.youtube.com/watch?v=TzJbp2uRhoc

एग्रीकल्चरल प्रोडक्शन इन मुगल इंडिया-II
https://www.youtube.com/watch?v=TO_2hyR7nmo

मुगल एम्पायर सिस्टम ऑफ एग्रीकल्चरल प्रोडक्शन
https://www.youtube.com/watch?v=ogXCHKbpHW4

एग्रेरियन स्ट्रक्चर इन मुगल इंडिया-I
https://www.youtube.com/watch?v=OEf15hoqwqw

एग्रेरियन स्ट्रक्चर इन मुगल इंडिया-I
https://www.youtube.com/watch?v=e1oL3k9-hn8

एग्रेरियन स्ट्रक्चर इन मुगल इंडिया-II
https://www.youtube.com/watch?v=_RODmiEY39k

ज़मींदारी सिस्टम
https://www.youtube.com/watch?v=Hp7NPo0T90Q

द विलेज कम्युनिटीः ज़मींदार्स एंड प्रेजेंन्ट्स
https://www.youtube.com/watch?v=ZH2b8hmcTxI

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 15 विनिमय अर्थव्यवस्थाः द्रव्य तथा मुद्रा*

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 मुगलों की मुद्रा व्यवस्था

15.3 मुद्रा ढ़लाई प्रणाली

15.4 कीमतें तथा वेतन और मजदूरी

15.5 सारांश

15.6 शब्दावली

15.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

15.8 संदर्भ ग्रंथ

15.9 शैक्षणिक वीडियो

15.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम मुगल कालीन मौद्रिक व्यवस्था के कुछ महत्वपूर्ण आयामों पर विचार करेंगे। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्नलिखित के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगेः.

- मुगल अर्थव्यवस्था में मुद्रा के बढ़ते प्रयोग,
- मुगलों की मौद्रिक व्यवस्था,
- मुगल टकसालों की कार्यप्रणाली, और
- मुगल काल में कीमतें तथा उनके उतार-चढ़ाव।

15.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम मौद्रिक व्यवस्था की चर्चा करेंगे। मुगलों की धातु मुद्रा की व्यवस्था काफी विकसित थी। इस काल में सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्के ढाले गये। यहाँ हम विभिन्न मुद्राओं के तुलनात्मक मूल्य, ढलाई की व्यवस्था और टकसालों की अवस्थिति पर विचार करेंगे।

तीसरे भाग में हम मूल्यों का विश्लेषण करेंगे। अन्य बातों के अलावा, हम इस काल के उत्पादन और वाणिज्यिक गतिविधियों पर मूल्यों के उतार-चढ़ाव के पड़ने वाले प्रभावों पर भी विचार करेंगे।

15.2 मुगलों की मुद्रा व्यवस्था

मुगलों के शासनकाल में मौद्रिक व्यवस्था पूरी तरह सुव्यवस्थित थी। इस समय धातुओं की शुद्धता बनाए रखने में काफी सफलता प्राप्त कर ली गयी थी।

मुगल मुद्रा व्यवस्था को त्रिधातुक कहा जा सकता है अर्थात् तीन प्रकार के सिक्के ढाले जाते थे, ताँबा, चाँदी और सोना। लेकिन चाँदी का सिक्का आधारभूत मुद्रा थी।

चाँदी के सिक्कों का मुगलों से पहले का लंबा इतिहास है। दिल्ली सल्तनत में इसका प्रयोग किया गया और इसे *तनका* कहा गया। शेरशाह ने पहली बार चाँदी के सिक्के का मानकीकरण किया। इसे

* प्रो. ए. आर. खान, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

यह इकाई हमारे पूर्ववर्ती पाठ्यक्रम ई.एच.आई.-04: *भारतः 16वीं शताब्दी से मध्य 18वीं शताब्दी तक,* खंड 5, इकाई 20 से ली गई है।

रुपया कहा जाता था और इसका वजन 178 ग्रेन (***ट्रॉय***) होता था। ढलाई करने के लिए सिक्के में अन्य धातु भी मिलाई जाती थी जो सिक्के के कुल वजन के 4 प्रतिशत से अधिक नहीं होती थी। अकबर ने भी लगभग इसी वजन के साथ *रुपया* को आधार मुद्रा के रूप में अपनाया। औरंगजेब के शासनकाल में *रुपया* का वजन बढ़कर 180 ग्रेन (*ट्रॉय*) हो गया। व्यापार और राजस्व, आदि के लिए मुख्य रूप से चाँदी के सिक्के का ही उपयोग किया जाता था।

मुगलों ने स्वर्ण मुद्राएँ भी जारी कीं जिसे *अशरफी* या *मुहर* कहते थे। इसका वजन 169 ग्रेन (*ट्रॉय*) होता था। यह सिक्का मुख्य रूप से वाणिज्यिक लेन-देन में काम में नहीं लाया जाता था। इसे मुख्य रूप से संचय निधि के रूप में रखा जाता था और इसे उपहार देने के काम में भी लाया जाता था।

छोटे-मोटे लेन-देन में प्रयुक्त होने वाला आम सिक्का ताँबे का ***दाम*** था जिसका वजन 323 ग्रेन हुआ करता था। संभवतः ताँबे की आपूर्ति में कमी के कारण औरंगजेब के शासनकाल में ताँबे के *दाम* का वजन एक तिहाई घटा दिया गया।

तटीय इलाकों में छोटे-मोटे खरीद-फरोख्त के लिए *कौड़ियों* (समुद्री सीपी) का उपयोग किया जाता था। ये मुख्य रूप से मालदीव द्वीपों से लायी जाती थीं। लगभग 2500 *कौड़ियाँ* एक *रुपया* के बराबर होती थीं।

चाँदी के *रुपया* के अलावा अन्य प्रकार के सिक्के भी उपयोग में लाए जाते थे। इनमें सबसे महत्वपूर्ण ***महमूदी*** था जो गुजरात का काफी पुराना चाँदी का सिक्का था। यहाँ तक कि गुजरात में मुगल शासन की स्थापना के बावजूद इसकी ढलाई जारी रही और यह गुजरात में वाणिज्यिक लेन-देन में प्रयुक्त होता रहा।

विजयनगर साम्राज्य में ***हूण*** या ***पगोडा*** नामक सोने का सिक्का चला करता था। विजयनगर के विघटन के बाद बीजापुर और गोलकुंडा राज्यों में इसका उपयोग होता रहा। कई दक्खनी राज्यों में ताँबे और चाँदी की मिश्र-धातु का सिक्का ***तनका*** के नाम से उपयोग में आता रहा। दक्खन में मुगल शासन की स्थापना के बाद उस इलाके में मुगल चाँदी के सिक्के की ढलाई के लिए कई टकसालें खोली गईं।

सिक्कों का विनिमय मूल्य

सोना, चाँदी और ताँबे के सिक्कों का विनिमय मूल्य बाजार में इन धातुओं की उपलब्धता के आधार पर बदलता रहता था। पूरे मुगल काल में सोने के सिक्के की तुलना में चाँदी के सिक्के का मूल्य अधिक ऊपर-नीचे होता रहा। एक सोने के सिक्के का मूल्य 10 से लेकर 14 *रुपये* तक बदलता रहा।

ताँबे के सिक्कों के मामले में 1595 को आधार वर्ष बनाकर इरफान हबीब दिर्शाते हैं कि 1660 के दशक तक यह ढाई गुना ऊपर बढ़ा परन्तु 1700 तक आते-आते यह लगभग दोगुना हो गया (1595 की तुलना में) और फिर 1750 में लगभग 1660 के स्तर पर आ गया।

अकबर के शासनकाल में लेन-देन की दृष्टि से 40 ताँबे के *दाम* एक *रुपया* के बराबर होते थे। उसकी मृत्यु के बाद ताँबे की दर में तेजी से वृद्धि होने के कारण यह अनुपात कायम नहीं रखा जा सका। चूंकि सभी भू-राजस्व निर्धारण और आकलन *दाम* में किए जाते थे अतः इसे *रुपये* की सिद्धांततः इकाई के रूप में उपयोग में लाना आवश्यक था। छोटे मूल्य के चाँदी के सिक्कों को *आना* कहते थे। इसका भी उपयोग किया जाता था। यह रुपये का 1/16वाँ हिस्सा होता था।

ऊपर हमने जो विवरण दिया है उसमें हमने मुगलों की मौद्रिक व्यवस्था के संबंध में विद्वानों के बीच हुए विवादों और जटिलताओं का जिक्र नहीं किया है। यहाँ हमने सरल ढंग से केवल मुगल मुद्रा प्रणाली की आधारभूत विशेषताओं को स्पष्ट करने की कोशिश की है।

15.3 मुद्रा ढलाई प्रणाली

मुगलों की 'मुक्त-मुद्रा प्रणाली' थी जिसके तहत कोई भी बहुमूल्य धातुओं को टकसाल में लाकर सिक्का ढलवा सकता था। केवल राज्य ही सिक्का जारी कर सकता था और कोई अन्य व्यक्ति उसे जारी नहीं कर सकता था। सिक्कों की शुद्धता बनाए रखने के लिए मानकीकरण का कड़ाई से पालन किया जाता था।

पूरे साम्राज्य में कई टकसालें स्थापित की गई थीं। ये टकसाल बड़े शहरों और बंदरगाहों में स्थापित की गई थीं ताकि आयातित बहुमूल्य धातुओं को आसानी से सीधे टकसाल पहुंचाया जा सके। प्रत्येक सिक्के पर ढलाई करने वाली टकसाल, ढलाई का वर्ष और शासक का नाम लिखा होता था।

चालू या पिछले वर्ष में ढाले गये नये सिक्कों को ***ताज़ा सिक्का*** (नये ढाले गये सिक्के) कहते थे। किसी सम्राट के शासनकाल में जारी और प्रचलित सिक्के को ***चलनी*** (वर्तमान) कहते थे। जबकि पिछले शासनकाल में ढाले गये सिक्के को ***खज़ाना*** के नाम से जाना जाता था। *ताज़ा* के अलावा अन्य सभी सिक्कों को उनके वास्तविक मूल्य से कम में आंका जाता था।

जारी किए गए वर्ष के बाद के वर्षों में सिक्के के मूल्य से कुछ खास राशि काट ली जाती थी। अगर कोई सिक्का एक वर्ष से अधिक प्रचलन में रहा तो 3 प्रतिशत काटा जाता था और यदि यह 2 वर्ष से ज्यादा पुराना होता था तो 5 प्रतिशत की कटौती की जाती थी।

समय के साथ-साथ सिक्के का वज़न घटने पर भी उसके मूल्य में कटौती की जाती थी। अबुल फज़ल कहता है कि अगर वज़न एक *रत्ती* से कम होता था तो इसे नजरअंदाज कर दिया जाता था और सिक्के को मानक माना जाता था। अगर वज़न में 1 से 2 *रत्ती* की कमी आती थी तो ढाई प्रतिशत की कटौती की जाती थी, और अगर यह कमी 2 *रत्ती* से भी ज्यादा हो जाती थी तो उसे केवल धातु (चाँदी) के रूप में देखा जाता था।

इन सभी कटौतियों का निर्णय राज्य करता था परन्तु व्यवहार में *सर्राफ* (मुद्रा की जाँच करने वाले) बाजार के आधार पर मनमाने ढंग से कटौतियाँ किया करते थे।

टकसालों की कार्य पद्धति

सिक्कों की ढलाई का इच्छुक कोई भी व्यक्ति धातु या पुरानी मुद्रा टकसाल लाकर सिक्कों की ढलाई करा सकता था। धातु की गुणवत्ता और शुद्धता की जाँच की जाती थी। मुद्रा ढालकर व्यक्ति विशेष के सुपुर्द कर दी जाती थी। ढलाई के लिए निश्चित दर पर शुल्क लिया जाता था। ढाली गयी बहुमूल्य धातु का लगभग 5.6 प्रतिशत ढलाई शुल्क लिया जाता था।

इस ढलाई के काम को कई व्यक्ति और दस्तकार मिलकर किया करते थे।

दारोगा-ए दारूल ज़र्ब टकसाल का मुख्य पदाधिकारी होता था। वह टकसाल के सभी कार्यों का समग्र निरीक्षण करता था। कई पदाधिकारी, निपुण कारीगर और कार्मिक उसकी सहायता करते थे। टकसाल द्वारा *सर्राफ* की नियुक्ति मूल्यांकनकर्ता के रूप में की जाती थी। उसे सिक्के की शुद्धता, वजन और समय की जाँच और उनका मूल्य निर्धारण कर कटौती की राशि निश्चित करनी होती थी। *मुशरिफ* लेखे की देखरेख करता था। *तहवीलदार* प्रतिदिन लाभ का हिसाब रखता था और सिक्कों तथा बहुमूल्य धातुओं को सुरक्षित स्थान पर रखता था। *मुहरकान* (ढालने वाला) सिक्कों को ढालता और खांचे बनाता था। *वज़नकश* (वज़न लेने वाला व्यक्ति) सिक्कों का वज़न जाँचता था। इसके अलावा *ज़र्राब*, (सिक्का निर्माता), *सिक्काची* (ठप्पा लगाने वाला), आदि कई कारीगर इन टकसालों में काम करते थे।

टकसालों की उत्पादन क्षमता के बारे में ठीक बताना मुश्किल है क्योंकि यह टकसाल के आकार और उस इलाके की वाणिज्यिक गतिविधियों पर निर्भर करता था जहाँ टकसाल स्थित होती थी। 17वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में सूरत की टकसाल में प्रतिदिन 30,000 सिक्के (*रुपया*) ढाले जाते थे। अज़ीज़ा हसन ने 16वीं-17वीं शताब्दी में सिक्कों को जारी किए जाने के विन्यास की चर्चा की है। उनके अनुसार *प्रचलित रुपयों* की संख्या 1591 और 1639 के बीच तिगुनी हो गई। 1639 के बाद गिरावट आई और 1684 तक यह 1591 सी ई में *प्रचलित रुपयों* के दुगने तक सीमित रह गई। 1684 के बाद यह पुनः बढ़ने लगी और 1700 में कुल संख्या 1591 की तुलना में तिगुनी हो गई।

टकसालों की अवस्थिति

अबुल फज़ल ने *आइन-ए अकबरी* में टकसालों की एक सूची दी है। उसके अनुसार बयालीस टकसालों में ताँबे के सिक्के, चौदह में चाँदी के सिक्के और चार में सोने के सिक्के ढाले जाते थे। 17वीं शताब्दी के अंत तक चाँदी के सिक्के ढालने वाली टकसालों की संख्या बढ़कर चालीस हो गई।

एम. पी. सिंह ने कई मुद्रा संबंधी स्रोतों के आधार पर टकसालों की एक विस्तृत सूची बनाई है। उनके अनुसार बहुत से सिक्कों पर टंकित टकसालों के नाम न तो *आइन-ए अकबरी* में और न ही किसी अन्य साहित्यिक स्रोत में मिलते है। हम उनके द्वारा बनाई गई सूची नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं।

शासनकाल	सोना चाँदी और ताँबा को ढालने वाली टकसाल	केवल सोने का सिक्का ढालने वाली टकसाल	केवल सोना और चाँदी के सिक्के ढालने वाली टकसाल	सोना और ताँबे के सिक्के ढालने वाली टकसाल	केवल चाँदी के सिक्के ढालने वाली टकसाल	केवल चाँदी और ताँबे का सिक्का ढालने वाली टकसाल	केवल ताँबे का सिक्का ढालने वाली टकसाल	कुल
अकबर	13	4	3	1	14	14	35	84
जहाँगीर	6	2	7	—	11	3	3	32
शाहजहाँ	10	1	12	—	13	—	5	41
औरंगजेब	18	1	24	—	36	3	3	85

स्रोतः एम. पी. सिंह, (1985) *टाउन, मार्केट, मिंट एंड पोर्ट इन द मुगल अम्पायर, 1556-1707ः एन एडमिनस्ट्रिटिव-कम-इकॉनॉमिक स्टडी* (दिल्लीः अदम पब्लिशर्स), पृ. 173

बोध प्रश्न-1

1) मुगल मुद्रा व्यवस्था की प्रकृति पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

2) मुगलों की मुद्रा ढलाई व्यवस्था की व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

15.4 कीमतें तथा वेतन और मजदूरी

कीमतें

आईन-ए अकबरी में कई प्रकार की वस्तुओं के मूल्यों की सूचियाँ उपलब्ध हैं। यह मुख्य रूप से 16वीं शताब्दी में अंत के आगरा के आसपास के मूल्य से संबद्ध हैं। तुलना करने के लिए आगे के वर्षों के मूल्यों का कोई व्यवस्थित ब्यौरा उपलब्ध नहीं है।

17वीं शताब्दी के दौरान साम्राज्य के विभिन्न क्षेत्रों और अलग-अलग वर्षों में कुछ वस्तुओं के मूल्यों के बारे में कुछ बिखरी हुई जानकारी मिलती है। इस स्थिति में पूरे मुगल काल में विभिन्न वस्तुओं के मूल्यों में उतार-चढ़ाव की निश्चित प्रवृत्ति को पहचान पाना बहुत कठिन है। इरफान हबीब ने 16वीं-17वीं शताब्दी के दौरान मूल्यों के उतार-चढ़ाव का अध्ययन किया है (रेचौधरी तथा इरफान हबीब 1982)। हम नीचे इरफान हबीब द्वारा किए गये इस अध्ययन का संक्षेप में उल्लेख करने जा रहे हैं।

सोना, चाँदी और ताँबा

हमने भाग 15.2 में इन धातुओं के तुलनात्मक मूल्यों का उल्लेख किया था। 1580 के आसपास सोने और चाँदी का अनुपात 1:9 था। 1670 सी ई के बाद कई उतार-चढ़ाव आए और यह अनुपात 1:16 हो गया। परन्तु 1750 सी ई तक यह पुनः 1:14 हो गया।

16वीं शताब्दी के अंत से 1660 सी ई तक आते-आते ताँबे के सिक्कों का चाँदी में मूल्य 2.5 गुना बढ़ गया। 1700 सी ई तक यह नीचे गिरकर 16वीं शताब्दी के मूल्य का दोगुना हो गया। एक बार फिर 1750 सी ई में यह 1660 सी ई के स्तर पर पहुंच गया।

कृषि उत्पाद

खाद्यान्नों के मूल्यों के विश्लेषण में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इनके मूल्यों में कई प्रकार के उतार-चढ़ाव होते रहते थे। किसी वर्ष और क्षेत्र में खाद्यान्नों का मूल्य उस क्षेत्र में उसके उत्पादन से निर्धारित होता था। इसके अतिरिक्त उस वर्ष हुई उपज से भी इनका मूल्य निर्धारित होता था। एक ही समय में एक ही वस्तु का दो स्थानों पर अलग-अलग मूल्य हो सकता था। यह उत्पादन स्थल से बाजार की दूरी पर भी निर्भर करता था। *आईन-ए अकबरी* में उल्लिखित कुछ अनाजों के मूल्यों को नीचे दर्शाया जा रहा है:

गेहूँ प्रति मन	12 *दाम*	**सादा धान प्रति मन**	100 *दाम*
काला चना प्रति मन	8 *दाम*	**देवज़ीरा चावल प्रति मन**	90 *दाम*
मसूर चना प्रति मन	12 *दाम*	**साठी चावल प्रति मन**	20 *दाम*
जौ चना प्रति मन	8 *दाम*	**उड़द दाल प्रति मन**	16 *दाम*
मोठ चना प्रति मन	12 *दाम*	**मूंग दाल प्रति मन**	18 *दाम*

1595 और 1637 के बीच अनाजों के मूल्य में दोगुनी वृद्धि हुई। 1637 और 1670 के बीच 15 से 20 प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई। 1670 तक मूल्य 1595 की तुलना में 230 प्रतिशत बढ़ गये। पूर्वी राजस्थान का व्यवस्थित आँकड़ा उपलब्ध है। यहाँ 1660 और 1690 के दशकों के बीच कृषीय मूल्यों में मामूली वृद्धि पाई जाती है, लेकिन 18वीं शताब्दी के दूसरे दशक में इसमें तेजी से वृद्धि हुई। इसके बाद 1690 के दशक की तुलना में उनका मूल्य दोगुना से भी ज्यादा रहा।

चीनी और नील

चीनी और नील मुगल कालीन भारत की दो प्रमुख नगदी फसलें थीं। उत्तर भारत में 1615 सी ई तक चीनी के मूल्य में न के बराबर वृद्धि हुई। 1630 तक इसमें 140 प्रतिशत की वृद्धि हुई और 1650 के दशक तक यह बढ़ोतरी कायम रही, जबकि गुजरात में 1620 तक चीनी का मूल्य दोगुना हो गया था।

नील के दो प्रमुख प्रकारों – बयाना नील और सरखेज नील के मूल्यों में अलग-अलग ढंग से उतार-चढ़ाव हुआ। *आईन-ए अकबरी* (1595 सी ई) में बयाना नील का मूल 16 *रुपये* प्रति मन बताया गया है। 17वीं शताब्दी के प्रथम 25 वर्षों तक मूल्य लगभग इसी स्तर पर टिके रहे। 1630 के दशक में इसमें अचानक वृद्धि हुई और कुछ समय बाद इसके मूल्य में गिरावट आ गई, फिर भी 1620 के दशक के मूल्य से यह मूल्य काफी अधिक था। 1660 के दशक में एक बार फिर तेजी से वृद्धि हुई, थोड़े समय बाद इसमें गिरावट आई, परन्तु 1595 की तुलना में यह मूल्य तिगुना था।

1620 के दशक तक सरखेज नील का मूल्य डेढ़ गुना बढ़ गया। 1630 के दशक में इसमें तेजी से वृद्धि हुई और 1640 के दशक में गिरावट आई लेकिन 1595 की तुलना में यह मूल्य दोगुना था। नील के मूल्य में उतार-चढ़ाव विदेशी माँग से भी प्रभावित होता था।

वेतन और मजदूरी

आईन-ए अकबरी में कई प्रकार के मजूदरों की मजदूरी का उल्लेख मिलता है। 17वीं शताब्दी के लिए ऐसा कोई आँकड़ा उपलब्ध नहीं है। अतः इस पूरे काल की मजदूरी दर की प्रवृत्ति को आँक पाना कठिन है। 17वीं शताब्दी के इधर-उधर बिखरे आँकड़ों को देखने से पता चलता है कि 1637 तक वेतनमानों में 67 से 100 प्रतिशत तक वृद्धि हो चुकी थी, परन्तु इनके आधार पर कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है।

बोध प्रश्न-2

1) मुगल काल में प्रचलित कृषि मूल्यों के मूल्याँकन में किन समस्याओं का सामना करना पड़ता है?

.....

.....

.....

2) मुगल काल में प्रचलित श्रमिक मजदूरी का संक्षिप्त ब्यौरा प्रस्तुत कीजिए।

.....

.....

.....

3) 17वीं शताब्दी के दौरान मूल्यों के उतार-चढ़ाव पर संक्षेप में टिप्पणी कीजिए।

.....

.....

.....

15.5 सारांश

इस इकाई में हमने मुगलों की मुद्रा प्रणाली की प्रकृति के बारे में पढ़ा। मुगल मुद्रा प्रणाली त्रिधातुक थी अर्थात् इसमें सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्के का उपयोग होता था। मुगल मुद्रा प्रणाली मुक्त थी और कोई भी व्यक्ति बहुमूल्य धातु लेकर टकसाल से सिक्के ढलवा सकता था। पूरे साम्राज्य में टकसालों का जाल स्थापित किया गया था। इसमें शुद्धता और मानकीकरण के ऊँचे मानदंड का कड़ाई से पालन किया जाता था।

डेढ़ सौ वर्षों में मूल्य चार गुना बढ़ गए। प्रति वर्ष मूल्यों की वृद्धि दर लगभग 1.9 प्रतिशत थी। मजदूरी संबंधी परिणात्मक आँकड़े काफी कम उपलब्ध हैं। हमें मजदूरी के बारे में विस्तार से जानकारी *आईन-ए अकबरी* (1595) में मिलती है।

15.6 शब्दावली

आना	छोटे मूल्य के चाँदी के सिक्के; एक मुगल चाँदी का रुपया = 16 *आनों* में विभाजित था; प्रत्येक *आना* पुनःश्च 4 *पैसे* में विभाजित होता था
चलनी	सम्राट विशेष के शासनकाल में जारी और प्रचलित सिक्के
दाम	मुगल काल में प्रचलित ताँबे का सिक्का; 40 दाम = 1 मुगल कालीन चाँदी का *रुपया*
हण/पगोडा	विजयनगर साम्राज्य में प्रचलित सोने का सिक्का
खज़ाना	पूर्ववर्ती सम्राट के शासनकाल में ढाले गए सिक्के
महमूदी	गुजरात में प्रचलित चाँदी का सिक्का
ट्रॉय	वज़न मापने की अंग्रेजी प्रणाली थी जिसका प्रयोग सोने, चाँदी और बहुमूल्य नगों के संदर्भ में किया जाता था। इसके अनुसार 1 पाउंड = 12 आउन्स = 5760 ग्रेन
तनका	दक्खन में प्रचलित चाँदी का सिक्का
ताज़ा सिक्का	सम्राट के चालू वर्ष या पिछले वर्ष में ढाले गए नवीन सिक्के

15.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) मुगलों की मुद्रा ढालने की व्यवस्था 'मुक्त' थी। यह त्रिधातुक मुद्रा प्रणाली थी। देखें भाग 15.2

2) आप इसमें चुंगी कर, टकसाल शुल्क, उत्पाद शुल्क, आदि का उल्लेख कर सकते हैं। देखिए भाग 15.3

बोध प्रश्न-2

1) देखें भाग 15.4

2) देखें भाग 15.4

3) देखें भाग 15.4

15.8 संदर्भ ग्रंथ

डेयल, जॉन (1990) *लिविंग विदाउट सिल्वरः द मॉनिटरी हिस्ट्री ऑफ अर्ली मिडिवल नॉर्थ इंडिया* (दिल्लीः ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस).

हबीब, इरफान, *मुगलकालीन भारत की कृषि व्यवस्था, 1556-1707* (हिंदी संस्करण).

रेचौधरी, तपन और इरफान हबीब, (1982) *द कैम्ब्रिज इकॉनामिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया*, भाग 1 (दिल्लीः कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय प्रेस).

रिचर्ड्स, जॉन एफ., (1987) *द इम्पीरियल मॉनिटरी सिस्टम ऑफ मुगल इंडिया* (दिल्लीः ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस).

सिंह, एम. पी., (1985) *टाउन, मार्केट, मिंट एंड पोर्ट इन द मुगल एम्पायरः एन एडमिनिस्ट्रेटिव-कम-इकॉनॉमिक स्टडी* (दिल्लीः अदम पब्लिशर्स).

15.9 शैक्षणिक वीडियो

मुगल मॉनेटरी सिस्टम
https://www.youtube.com/watch?v=zWUFgxLEGTg

मुगल एम्पायर – ट्रेड एंड मॉनिटरी सिस्टम
https://www.youtube.com/watch?v=AIL-adfuybI

मुगल मॉनिटरी सिस्टम
https://www.youtube.com/watch?v=9rmyjK-cHi4

व्हाट मुगल कॉइन्स टैल अस अबाउट द ग्रेट एम्पायर
https://www.youtube.com/watch?v=lrfgWYb-cRw

इकाई 16 कस्बे, नगर तथा नगरीय केन्द्रों का विकास*

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 मध्यकालीन नगरों के अध्ययन संबंधी दृष्टिकोण

16.3 मुगलकालीन नगरीय परिदृश्य

16.4 नगरीय जनसंख्या की संरचनाः शहरी वर्ग

16.5 नगरीय जनसांख्यिकी

16.6 शहरी जीवन

16.6.1 जीवन स्तर

16.6.2 सामाजिक जीवन

16.6.3 मनोरंजन और आमोद-प्रमोद

16.7 सारांश

16.8 शब्दावली

16.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

16.10 संदर्भ ग्रंथ

16.11 शैक्षणिक वीडियो

16.0 उद्देश्य

मध्यकालीन भारत का नगरीय इतिहास अत्यन्त महत्वपूर्ण और रोचक विषय है। इस इकाई में आप मध्यकाल में नगरीय अर्थव्यवस्था और नगरों के विकास का अध्ययन करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- मध्यकालीन भारत में शहरीकरण को जान सकेंगे तथा साथ-साथ इस विषय में प्रतिपादित प्रमुख दृष्टिकोणों की जानकारी भी प्राप्त करेंगे,
- मध्यकालीन शहरों की भौतिक विशेषताओं का वर्णन कर सकेंगे, और
- मध्यकालीन शहरी जीवन की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कर सकेंगे।

16.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम आपका परिचय मध्यकाल के नगरीय इतिहास से कराएंगे। मध्यकालीन भारत का शहरी इतिहास एक महत्वपूर्ण विषय होने के बावजूद इतिहासकारों का पर्याप्त ध्यान आकृष्ट नहीं कर पाया है। इस विषय में अध्ययन के विविध क्षेत्रों की बड़ी संख्या इसके बहुआयामी होने की ओर संकेत करती है। शहरी केन्द्रों का विस्तार, उनका आकार, नगरीय अर्थव्यवस्था, तथा शहरी समाज इस विषय में अध्ययन के आयामों के कुछ प्रमुख उदाहरण हैं।

* प्रो. ए. आर. खान., प्रो. रवीन्द्र कुमार और प्रो. आभा सिंह, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

यह इकाई हमारे पूर्ववर्ती पाठ्यक्रम ई.एच.आई.-04: *भारतः 16वीं शताब्दी से 18वीं शताब्दी तक* के खंड 7, इकाई 28 से ली गई है।

इस इकाई में पहले हम आपको नगरीय इतिहास से परिचित करायेंगे। हम सैद्धांतिक के साथ-साथ शहरीकरण के अध्ययन के प्रति अपनाये गये सामान्य परिप्रेक्ष्य के विषय पर भी चर्चा करेंगे। हम प्रमुखतः शहरों की संरचना और शहरी जीवन शैली पर ध्यान केन्द्रित करेंगे। यहाँ यह स्पष्ट करना जरूरी है कि इस प्रकार के अध्ययन से हमारा दृष्टिकोण इस बात से निर्धारित होगा कि हम किस प्रकार के प्रश्न और उनके उत्तर आपके समक्ष प्रस्तुत करते हैं। आप देखेंगे कि शहरों की संरचना और शहरी समाज और जीवन का जो प्रारूप हम यहाँ प्रस्तुत करेंगे वह मध्यकालीन शहरीकरण के प्रश्न से सीधे संबंधित है।

16.2 मध्यकालीन नगरों के अध्ययन संबंधी दृष्टिकोण

विद्वानों ने शहरीकरण का शहरों के भौतिक विकास और एक विशिष्ट जीवन शैली (शहरी) के रूप में अध्ययन किया है। पश्चिमी देशों में इस क्षेत्र में काफी काम किया गया है परन्तु भारत में शहरी इतिहास का अध्ययन अभी विकास की व्यवस्था में है। इस भाग में हम भारत में इस विषय में अब तक किये गये शोधों के आधार पर तत्कालीन शहरी संरचना की जानकारी देंगे।

गाँव के विपरीत शहरों की दो प्रमुख विशेषताओं पर अब आम सहमति है। प्रथम तो यह कि शहर एक घनी आबादी वाला ऐसा क्षेत्र था जिसका विस्तार सीमित और निर्धारित था। दूसरा यह कि यहाँ की जनसंख्या प्रमुखतः गैर-कृषि आधारित थी। इस प्रकार शहरों में व्यक्ति : स्थान अनुपात सीमित था और यहाँ के निवासी विविध प्रकार के व्यवसायों में कार्यरत थे।

मध्यकालीन भारत में शहरीकरण के विषय में विभिन्न व्याख्याएँ दी गई हैं। इन व्याख्याओं में शहरीकरण के जिन कारणों पर चर्चा की गई है वह प्रमुखतः चार प्रकार के शहरी केन्द्रों के विकास की ओर इंगित करते हैं:

i) प्रशासनिक
ii) धार्मिक
iii) सैनिक/सामरिक महत्व के
iv) बाज़ार (वाणिज्यिक)

प्रशासनिक शहर स्वाभाविक रूप से प्रशासन के केन्द्रों के रूप में कार्य करते थे। मुगलकाल के दिल्ली और लाहौर जैसे शहर इसी श्रेणी में आते थे। धार्मिक केन्द्र प्रमुखतः तीर्थ यात्रियों को आकृष्ट करते थे, उदाहरण के लिए वाराणसी तथा मथुरा। सैनिक और सामरिक महत्व के शहरों का विकास प्रमुख रूप से सैनिक छावनियों के रूप में हुआ। बाद में इन केन्द्रों में गैर-सैनिक जनसंख्या भी बस गई। अटक और असीरगढ़ जैसे शहर इस श्रेणी के थे। चौथी श्रेणी में ऐसे शहर आते हैं जो वाणिज्यिक गतिविधियों के केन्द्र या उत्पादन के स्थल थे। अक्सर इस प्रकार के शहरों में दोनों गतिविधियाँ केन्द्रित होती थीं। इस श्रेणी में मुगल साम्राज्य के पटना और अहमदाबाद जैसे शहर आते थे।

यहाँ हमें दो बातों का ध्यान रखना जरूरी है। पहला यह कि मुगल काल का एक औसत शहर सामाजिक व्यवहार और विशेषताओं में गाँव का एक विस्तृत रूप था। यह ग्राम-शहर अविच्छन्नता मुगलकालीन शहरीकरण की एक प्रमुख विशेषता थी। मुगल शहरी अर्थव्यवस्था की विविधता को देखते हुए इस काल के भारतीय शहर का कोई एक निश्चित स्वरूप स्थापित करना भ्रामक होगा। दूसरी विशेषता यह थी कि बाह्य रूप से समान (कार्यों की दृष्टि से) दिखते हुए भी दो शहर वास्तव में काफी भिन्न होते थे। वास्तव में किसी शहरी केन्द्र का विकास उसकी ऐतिहासिक परिस्थितियों और भौगोलिक अवस्थिति संबधी अनेक कारकों पर निर्भर था।

16.3 मुगलकालीन नगरीय परिदृश्य

मध्यकालीन शहरों की विभिन्नता के विषय में उपरोक्त चर्चा को स्वीकार करते हुए भी मुगल शहरों की कुछ सामान्य विशेषताएँ निम्नानुसार देखी जा सकती हैं:

अधिकांश शहर एक ऐसी चारदीवारी में स्थित होते थे जिसमें एक या अधिक प्रवेशद्वार होते थे। शहर की प्रमुख जनसंख्या इन चारदीवारी के अंदर ही रहती थी। शहरों के विस्तार के साथ अक्सर शहरी जनसंख्या इन दीवारों के बाहर तक बसने लगती थी। 17वीं शताब्दी के अंत में जॉन जॉर्डन का आगरा का वर्णन एक विशिष्ट मुगल शहर के उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। जॉर्डन के अनुसार, 'यह शहर नदी की दिशा में 12 कोस लम्बा है जो लगभग 16 मील के बराबर है। यह एक चारदीवारी में स्थित है, परन्तु उपनगरीय बस्ती शहर की दीवारों से लगी हुई ही थी। अगर दीवारों में प्रवेश द्वार न हों तो यह कह पाना मुश्किल होगा कि आप शहर की दीवारों के भीतर हैं या बाहर। अक्सर अमीर और कुलीन शहर की दीवारों के बाहर अपनी कोठियाँ और बाग बनवाते थे।' इस प्रकार दिल्ली, आगरा, पटना, अहमदाबाद और इलाहाबाद जैसे नगरों के बाहर इन कोठियों और बागों के आसपास बस्तियाँ बनकर उपनगर बस गये।

सुनियोजित बनाये गये शहरों में बाजार अलग से बनाये जाते थे। अन्य शहरों में सड़कों के दोनों ओर दुकानें होती थीं। दुकानदार स्वयं इनके ऊपर या पीछे के भाग में रहते थे। अधिकांश शहरों में एक से अधिक बाज़ार होते थे। कई बाजार किसी खास वस्तु के व्यापार के लिए विशिष्ट रूप से जाने जाते थे। अक्सर बाज़ारों के नाम उन विशिष्ट वस्तुओं का हवाला देते हैं। उदाहरण के लिए, आगरा में *लोहा गली* (लोहे की वस्तुएँ), *चीनीटोला* (शक्कर का बाज़ार), *गल्ला मंडी* (अनाज का बाजार), *दाल मंडी* (दाल बाज़ार), *साबुन कटरा* (साबुन का बाज़ार), *नील पाड़ा* (नील के लिए); दिल्ली में *जौहरी बाज़ार* (आभूषणों के लिए), *सब्जीमंडी*, (सब्जी के लिए), *चूड़ीवाड़ा* (चूड़ियों का बाज़ार), आदि। दिल्ली में पहाड़गंज, अनाज की थोक मंडी थी।

जिन क्षेत्रों में शहर की जनसंख्या रहती थी वे मुहल्लों में बंटे हुए होते थे। अधिकतर मुहल्ले किसी खास जाति या उत्पादक समुदायों के नामों से जाने जाते थे। उदाहरण के लिए, *कुंजड़ो मुहल्ला* (सब्जी के बेचने वाले), *मोचीवाड़ा* (जूते बनाने वाले), *मुहल्ला ज़रगरान* (सुनार), *कूचा रंगरेज़ान* (कपड़े रंगने वाले), आदि इस प्रकार के नाम लगभग सभी मुगल शहरों में पाये जाते हैं। कभी-कभी यह मुहल्ले उनमें रहने वाले प्रमुख व्यक्तियों, आदि के नाम से भी जाने जाते थे।

शहरों की एक अन्य विशेषता वहाँ पर *सरायों* का होना था। *सराय* व्यापारियों और यात्रियों के लिए रहने का स्थान थीं। छोटे शहर में भी कम से कम एक *सराय* होती थी। दिल्ली, आगरा, पटना, लाहौर और अहमदाबाद जैसे शहरों में बड़ी संख्या में *सरायें* पाई जाती थीं। अधिकांशतः कुलीन, बड़े व्यापारी, शाही घराने की महिलाएँ तथा राज्य की ओर से इन *सरायों* को बनवाया जाता था। यात्रियों को वहाँ सामान रखने के भंडार गृह से लेकर अन्य सभी प्रकार की सुविधाएँ मिलती थीं। *भटियारों* के परिवार *सरायों* के रख-रखाव का कार्य करते थे। *भटियारे सरायों* के देखभाल करने वालों के रूप में प्रसिद्ध हो गये थे। शहर में आने वाले विदेशियों को नगर के प्रशासकों को अपने आने और जाने के विषय में सूचित करना पड़ता था।

सामान्यतः शहरों में किसी भी प्रकार के योजनाबद्ध विकास का अभाव था। प्रमुख मार्गों के अलावा अन्य सड़कें तथा गलियाँ संकरी और मिट्टी की बनी होती थीं। शहरों के नियमित प्रशासन के लिए एक पृथक विकसित प्रशासनिक व्यवस्था थी।

16.4 नगरीय जनसंख्या की संरचनाः शहरी वर्ग

शहरों की जनसंख्या एक प्रकार की न होकर मिश्रित प्रकार की थी। समकालीन स्रोतों में हमें शहरों में विभिन्न वर्गों के लोगों के निवास के विषय में जानकारी मिलती है। इनको मोटे तौर पर चार श्रेणियों में बांटा जा सकता हैः

i) कुलीन और उनके सहयोगी, राज्य के अधिकारी तथा सैनिक;

ii) व्यापारिक और वाणिज्यिक गतिविधियों से संबंधित वर्ग (व्यापारी, *सर्राफ, दलाल*, आदि);

iii) धार्मिक प्रतिष्ठानों से संबंधित वर्ग, संगीतकार, चित्रकार, कवि, वैद्य-हकीम, आदि;

iv) कारीगर, मजदूर और विभिन्न प्रकार के सेवक, आदि।

विभिन्न शहरों में विभिन्न वर्गों के प्रकार, संख्या, आदि उस शहर की प्रकृति पर निर्भर करते थे, अर्थात् वे प्रशासनिक केन्द्र थे अथवा वाणिज्यिक केन्द्र। साम्राज्य के प्रमुख केन्द्र या राजधानी में संभवतः सबसे बड़ा वर्ग सम्राट और कुलीनों के सैनिकों और सेवकों का था। बर्नियर (1658) ने सम्राट शाहजहाँ के शिविर में लोगों की संख्या लगभग 3.4 लाख आँकी थी।

अन्य प्रशासनिक केन्द्रों की स्थिति भी लगभग यही थी। गवर्नर, प्रांतीय उच्च कुलीन तथा अन्य प्रशासनिक अधिकारी सभी के साथ बड़ी संख्या में सैनिक, आश्रित, सेवक, गुलाम और उनके परिवार के सदस्य होते थे।

अधिकांश बड़े शहर व्यापारिक गतिविधियों का केन्द्र होते थे इसलिए इन शहरों में वाणिज्यिक वर्ग महत्वपूर्ण होता था। एक अनुमान के अनुसार अहमदाबाद में केवल हिन्दू व्यापारियों की कुल जातियों और उपजातियों की संख्या लगभग 84 थी। 1640 में पटना में लगभग 600 *दलाल* थे। समकालीन स्रोतों में लगभग सभी बड़े शहरों में मीलों लम्बे बाज़ारों का वर्णन मिलता है। पटना जैसे औसत आकार के शहर में परचून की 200 से अधिक दुकानें थीं। जोधपुर जैसे शहर में भी *महाजनों* की 600 दुकानें थीं।

शहरों में रहने वाला अन्य महत्वपूर्ण वर्ग विद्वानों, वैद्यों, हकीमों तथा कला और संगीत से जुड़े लोगों का था। सामान्यतः धार्मिक कार्यों के लिए और दान में दी जाने वाली राजस्व मुक्त भूमि भी शहरों के आसपास दी जाती थी। इसके अतिरिक्त अधिकांश कवि, संगीतकार, चिकित्सक, आदि शहरों में ही रहते थे क्योंकि यहाँ धन कमाने के साधन थे तथा साथ ही यहीं उन्हें सम्राट और कुलीनों का संरक्षण भी प्राप्त हो जाता था।

व्यापारिक और वाणिज्यिक शहरों में एक बड़ी जनसंख्या, कारीगर, मजदूर और अन्य कार्मिक वर्गों की होती थी। हम इस काल के कारीगर उत्पादों की चर्चा अपने पाठ्यक्रम **बी एच आई सी-112** में करेंगे। उत्पादन की विभिन्न क्रियाओं से जुड़े कारीगरों को कई वर्गों में बांटा जा सकता है।

i) ऐसे कारीगर जो स्वयं वस्तुएँ बनाते और बेचते थे।

ii) ऐसे कारीगर जो सम्राट या कुलीनों के ***कारखानों*** या भवन निर्माण गतिविधियों में कार्यरत थे।

iii) कई उत्पादन क्षेत्रों में एक बड़ी संख्या अर्द्धकुशल कारीगर या अकुशल कार्मिकों के रूप में कुशल कारीगरों के सहायक के रूप में कार्य करती थी। जहाज़ निर्माण, हीरे, नमक और शोरे के खनन् उत्पादन के ऐसे क्षेत्र थे।

iv) घरेलू सेवकों या मजदूरों के रूप में कार्यरत एक बड़ा वर्ग भी शहरों में पाया जाता था।

16.5 नगरीय जनसांख्यिकी

तबकात-ए अकबरी (लगभग 1593) के अनुसार अकबर के काल में लगभग 120 बड़े शहर और 3200 *कस्बे* (छोटे शहर) थे। 17वीं शताब्दी में उद्योग व व्यापार के विकास के साथ यह संख्या भी बढ़ी होगी। निश्चित स्रोतों और अभिलेखों के अभाव में विभिन्न शहरों की ठीक-ठीक जनसंख्या पता करना संभव नहीं है। इरफान हबीब के अनुसार, कुल जनसंख्या का लगभग 15 प्रतिशत शहरों में निवास करता था।

विभिन्न शहरों के आकार के विषय में कुछ यूरोपीय यात्रियों के वृत्तांतों से जानकारी मिलती है। इन्होंने कहीं-कहीं तो अपने अनुमान दिये हैं और कहीं भारतीय शहरों की तुलना यूरोपीय शहरों से की है। इस प्रकार की जानकारी केवल कुछ गिने-चुने शहरों के बारे में ही दी गई है।

कुछ मुख्य शहरों के बारे में आकलन निम्नलिखित हैः

शहर	आकलन	जनसंख्या
आगरा	1609	5,00,000
	1629-43	6,66,000
	1666	8,00,000
दिल्ली	1659-66	5,00,000
लाहौर	1581	4,00,000
	1615	7,00,000
थट्टा	1631-5	2,25,000
अहमदाबाद	1613	1,00,000
		2,00,000
सूरत	1663	1,00,000
	1700	2,00,000
पटना	1631	2,00,000
ढाका	*c*.1630	2,00,000
मसूलीपट्टम	1672	2,00,000

स्रोतः तपन रेचौधरी और इरफान हबीब, *द कैम्ब्रिज इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया,* (नई दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस), भाग 1, पृ. 171

जनसंख्या के उपरोक्त आकलनों के आधार पर कहा जा सकता है कि भारत के उस समय के शहर यूरोपीय शहरों के समकक्ष थे।

बोध प्रश्न-1

1) मध्यकालीन नगरों के अध्ययन संबंधी प्रमुख दृष्टिकोण क्या हैं?

.....

.....

.....

2) मध्यकालीन नगरों की संरचना पर चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

3) *सराय* पर 50 शब्दों में एक टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

4) सही वक्तव्यों पर (✓) सही का और गलत वक्तव्यों पर (×) गलत का चिह्न लगाइएः

i) *भटियारे सरायों* का रखरखाव करते थे। ( )

ii) *तबकात-ए अकबरी* के अनुसार अकबर के काल में 120 बड़े शहर और 3200 *कस्बे* थे। ( )

iii) इरफान हबीब के अनुमान के अनुसार लगभग 12 प्रतिशत जनसंख्या शहरों में निवास करती थी। ( )

16.6 शहरी जीवन

यह रोचक तथ्य है कि हमारे मुगलकालीन स्रोत शहरी जीवन के विषय में पर्याप्त जानकारी प्रदान करते हैं।

16.6.1 जीवन स्तर

मध्यकालीन शहरी जीवन स्तर में काफी विषमता दिखाई देती है। जहाँ एक ओर उच्च वर्गों के लोग शाही तरीके का रहन-सहन अपनाते थे वहीं दूसरी ओर शहरों की गरीब जनता निम्न स्तर का जीवन व्यतीत करती थी। गोवा में आम जनता के जीवन स्तर के बारे में लिन्शोटन (1580-1590) लिखता है कि 'वे इतने गरीब हैं कि एक पैसे के लिए कोड़े सहने को तैयार हैं, वे इतना कम खाते हैं कि ऐसा लगता है कि वे हवा पर ज़िन्दा हैं, इसलिए ये सारे लोग आकार में छोटे और इनके हाथ-पाँव में कोई जान नहीं है।' डी. लायट भी कुछ इसी प्रकार के विचार प्रकट करता है। वह कहता है कि 'आम लोगों की स्थिति उन क्षेत्रों में अत्यंत दयनीय है; मजदूरी कम है; मजदूरों को दिन में एक ही बार भोजन प्राप्त हो पाता है; रहने के घर तुच्छ और बिना किसी साज-सामान के हैं; जाड़ों में स्वयं को गर्म रखने के लिए पहनने और ओढने के साधन भी नहीं हैं।'

आईन-ए अकबरी तथा उस काल के कुछ यूरोपीय स्रोत (पेल्सर्ट, पेट्रो डेला वेले, आदि) दर्शाते हैं कि शहरी मजदूरों की औसत आय 3.4 *रुपये* प्रतिमाह थी।

शीरीन मूसवी (1987) ने अपने शोधों के आधार पर दर्शाया है कि अकुशल कार्मिक की वस्तुएँ खरीदने की शक्ति 1867-1871-72 की तुलना में 1595 में कहीं अधिक थी। उनके अनुसार, अकबर के काल में एक शहरी कार्मिक 1867 के इसी प्रकार के कार्मिक की तुलना में अधिक गेहूँ, मोटे अनाज, घी और शक्कर, आदि खरीद सकता था। इस प्रकार वह 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के अपनी तरह के मजदूर की तुलना में अधिक अच्छा भोजन, आदि प्राप्त करता था। अकबर के काल के मजदूर केवल कपड़े खरीदने की क्षमता में काफी पीछे थे। एक साधारण मजदूर की तुलना में एक कुशल कारीगर की वस्तुएँ खरीदने की क्षमता 19वीं शताब्दी में और भी अधिक कम हो गई थी। इस प्रकार 1867 की तुलना में लगभग 1600 में वास्तविक शहरी वेतन (real wages) अधिक थे।

मध्यवर्ग, विशेष कर राजस्व विभाग के अधीनस्थ अधिकारी, छोटे *मनसबदार*, चिकित्सक तथा छोटे व्यापारी, आदि एक अच्छे स्तर का जीवन गुजारते थे। बुद्धिजीवी वर्ग ज्यादातर गरीब था और अधिकांशतः अपने जीवन-यापन के लिए अपने संरक्षकों पर निर्भर था।

कुलीन तथा अन्य उच्च वर्ग अत्यंत शान-शौकत का जीवन व्यतीत करते थे। हमें विवरण मिलता है कि एक कुलीन के लड़के ने चाँदनी चौक (दिल्ली) में एक दिन में मात्र आवश्यक वस्तुओं की एक लाख रुपये की खरीदारी की। मोरलैंड कहता है कि 'संचय करने की जगह खर्च करना ही उस काल की विशेषता थी।' शीरीन मूसवी ने 'शाही घराने' और कुलीनों की उपभोग पद्धति का अध्ययन किया है। उपभोग की पद्धति 'शाही घराने' और अमीरों तथा कुलीनों की जीवन शैली पर प्रकाश डालती है।

खर्च का मद	शाही परिवार (प्रतिशत में)	कुलीन (प्रतिशत में)
हरम (जनानखाना)	18-68	14.25
रसोई	7-28	7-04
वस्त्र	8-93	7-32
भवन (निर्माण)	8-01	6-57
शिविर से संबंधित व्यय	5-53	4-54
बर्तन	7-97	6-54
पशुओं का शिकार	1-41	1-16
पुस्तकें तथा कलाकृतियाँ	3-60	2-96
आभूषण व रत्न	23-65	19-40
पालतू और शिकारी पशु	6-94	5-69
विविधा	1-33	1-09
नकद अनुदान	6-67	-
पैदल सैनिक	-	8-43
हथियार और रक्षा कवच	-	9-67
बोझा ढोने वाले पशु	-	2-65
प्रदर्शन के लिए रखे जाने वाले पशु	-	2-69

इन आँकड़ों से साफ प्रदर्शित होता है कि मुगल कुलीन लगभग 75 प्रतिशत अपने आराम और विलासिता की वस्तुओं पर व्यय करता था। यह रईसी की जीवन शैली अक्सर उन्हें कंगाल बना देती थी। बर्नियर के अनुसार '... दूसरी ओर अधिकांश अमीर कर्ज में डूबे हुए थे, सम्राट को भेंट में दिए जाने वाले कीमती उपहार और उनके विस्तृत घर-गृहस्थी के खर्चे उन्हें बर्बाद कर देते थे।' 'इस कारण वे किसानों से अधिक से अधिक अनुचित वसूलियाँ करते थे।'

किन्तु शिल्प उत्पादन के विकास में कुलीनों ने काफी योगदान दिया। शीरीन मूसवी की गणना के अनुसार कुलीनों के वेतन का लगभग 63.26 प्रतिशत किसी न किसी प्रकार के शिल्प उत्पादन पर खर्च होता था। कुल *जमा* (अनुमानित आय) का लगभग 37.38 प्रतिशत औसत रूप से शिल्प उत्पादन पर खर्च होता था। यह कहा जा सकता है कि शिल्प उत्पादों पर खर्च काफी अधिक था। परन्तु यह उत्पादन व्यापार के उद्देश्य से नहीं अपितु व्यक्तिगत उपभोग के लिए था। इसलिए भारी निवेश के बावजूद यह उत्पादन किसी प्रकार के 'आंतरिक बाजार' (शिल्प उत्पादन के व्यापार के लिए) को जन्म नहीं दे सका।

वस्त्र

मध्यम और उच्च वर्गों के वस्त्र पहनने और उपभोग, आदि का स्तर लगभग समान थे। पहने हुए वस्त्रों की उत्कृष्टता के आधार पर वे अलग से पहचाने जा सकते थे। पुरूष विशिष्ट प्रकार की शलवार या चूड़ीदार पजामा तथा कमीज पहनते थे। जाड़ों में रुई भरी कोटी या सदरी तथा लम्बा ढीला कोट *क़ाबा* भी पहनते थे। साथ ही कंधों पर शॉल, कमर में *पटका* और सिर पर एक पगड़ी भी रहती थी। कहा जाता है कि हुमायूँ ने एक नये प्रकार के कोट का चलन शुरू किया। यह कमर पर फिटिंग वाला और आगे से खुला होता था। वह इसे *क़ाबा* (चोगे) के ऊपर पहनता था। इस प्रकार का कोट अक्सर सम्राट द्वारा कुलीनों को सम्मानसूचक वस्त्रों (*खिल्लत*) के रूप में भेंट किया जाता था। स्त्रियाँ ब्लाउज और एक बड़ी चादर पहनती थीं। दोआब क्षेत्र में *लंहगा* और *चोली* तथा एक प्रकार का बड़ा दुपट्टा काफी लोकप्रिय थे। मुस्लिम महिलाएँ ढ़ीली शलवार, कमीज और दुपट्टा तथा अक्सर बुर्का पहनती थीं।

वस्त्रों के लिए सादे या धारीदार सूती और रेशमी कपड़े का उपयोग होता था।

अकबर अपने वस्त्रों की ओर काफी ध्यान देता था। अबुल फज़ल के अनुसार, प्रत्येक वर्ष उसके लिए एक हजार जोड़े बनाए जाते थे। वह अपने सभी पुराने वस्त्र अपने सेवकों को दान कर देता था।

बर्नियर कहता है कि अमीर व्यापारी कोशिश करते थे कि वे दरिद्र दिखें ताकि 'उनसे धन न निचोड़ा जाय'। परन्तु बारबोसा कालीकट के मुस्लिम व्यापारियों के पहनावे और वस्त्रों की काफी प्रशंसा करता है। इसी प्रकार पेट्रो डेला वेले भी सूरत के व्यापारियों की शान-शौकत की चर्चा करता है। हिन्दू कुलीन भी अपना पहनावा अपने मुस्लिम साथियों की भांति अपनाते थे। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण मस्तक पर तिलक भी लगाते थे और राजपूत कानों में कुंडल पहनते थे।

निम्न वर्ग के लोग बहुत ही कम वस्त्र पहनते थे। आगरा और लाहौर की आम जनता के विषय में सालबांके लिखता है कि 'साधारण लोग इतने दरिद्र हैं कि उनमें से अधिकांश नग्न रहते हैं।' यूरोपीय यात्रियों ने दक्षिण भारत के विषय में भी लगभग इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। विजयनगर के आम लोगों के विषय में बारबोसा कहता है कि 'इनका पूरा शरीर नग्न रहता है और केवल शरीर का मध्य भाग ढकने के लिए एक कपड़े का प्रयोग करते हैं।' लिन्शोटन (1580-1590) कहता है कि गोवा के आम लोग 'बहुत गरीब हैं और लगभग नग्न रहते हैं।' बाबर कहता है कि 'कृषक और निम्न वर्गों के लोग लगभग नग्न रहते हैं। वह एक प्रकार का लंगोट पहनते हैं जिसे टांगों के बीच से पीठ के पीछे ले जाकर गाँठ लगाते हैं।' 'औरतें भी एक प्रकार का वस्त्र (*लुंग*) पहनती हैं जिसका एक हिस्सा कमर पर बांधती हैं और दूसरा सिर के ऊपर ले जाती हैं। जाड़ों में पुरुष रुई भरा कोट और इसी प्रकार की टोपी पहनते हैं।' दक्षिण में अधिकांश लोग नंगे पाँव रहते थे।

बोध प्रश्न-2

1) मुगल काल के शहरी मजूदरों के जीवन स्तर की तुलना 19वीं शताब्दी के शहरी मजदूरों से कीजिए।

.....

.....

.....

2) मुगल काल के शहरों के गरीब लोगों के वस्त्रों पर टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

16.6.2 सामाजिक जीवन

संयुक्त परिवार व्यवस्था का सामान्य प्रचलन था। महिलाओं को पुरुषों के अधीन रहना होता था। उच्च वर्गों की महिलाएँ *पर्दा* प्रथा का पालन करती थीं। बारबोसा का कहना है कि खम्बात में *पर्दा* प्रथा थी, परन्तु महिलाएँ अपने मित्रों के यहाँ आती-जाती रहती थीं। *पर्दा* प्रथा की सीमाओं के भीतर सामाजिक सम्पर्क और व्यवहार की पूर्ण स्वतंत्रता थी।

जौहर प्रथा केवल राजपूतों में ही प्रचलित थी। उनकी महिलाएँ असफलता या युद्ध, आदि में पराजय की स्थिति में अपने सम्मान की रक्षा के लिए सामूहिक रूप से जलकर अपने प्राणों की आहुति दे देती थीं। बाबर ने चन्देरी में मेदनी राय की पराजय के बाद उसकी स्त्रियों द्वारा *जौहर* किए जाने का विस्तृत वर्णन किया है।

उच्च जाति के हिन्दुओं में *सती* प्रथा भी काफी प्रचलित थी। मारवाड़ के मोटा राजा की पुत्री को अपनी इच्छा के विरुद्ध जलने के लिए बाध्य किया गया था। अकबर ने इस घटना को बहुत गंभीरता से लिया और प्रत्येक शहर और *सरकार* में पर्यवेक्षक नियुक्त किये। इनका कार्य इस बात पर नजर रखना था कि किसी भी स्त्री को *सती* होने के लिए बाध्य न किया जाए। अगर कोई स्त्री अपनी इच्छा से *सती* हो रही हो तो उसे न रोका जाये। अकबर ने (1587 सी ई) विधवाओं को पुनः विवाह करने की इजाजत देने के संबंध में भी कदम उठाये।

हिन्दू और मुसलमान दोनों ही लड़के और लड़कियों के विवाह कम उम्र में करने के पक्ष में थे, परन्तु अकबर बाल-विवाह के विरुद्ध था। उसने लड़कियों के लिए शादी की न्यूनतम उम्र 14 वर्ष और लड़कों के लिए 16 वर्ष निश्चित की।

जन्म उत्सव का विशेष महत्व था। मुसलमानों में जन्म के बाद *अकीका* (शिशु के सर के बाल मुड़ना और पशु की बलि देना) उत्सव मनाया जाता था। हिन्दुओं में भी जन्म के समय धार्मिक अनुष्ठान होते थे। मध्यम वर्गों में हिन्दू, बच्चे को 5 साल की उम्र में शिक्षा के लिए गुरु के पास छोड़ देते थे, जबकि मुसलमानों में परंपरा थी कि बच्चे को 4 साल 4 महीने ओर 4 दिन की आयु में *मकतब* (स्कूल) भेजा जाता था। इसे *बिस्मिल्लाह ख्वानी* कहा जाता था। सामान्यतः मुस्लिम लड़कों का *खतना* 7 साल की आयु में कराया जाता था। अकबर ने आदेश दिया कि 12 साल की आयु से पहले *खतना* न कराया जाये और इसे बालक की इच्छा पर भी छोड़ने का आदेश दिया। हिन्दुओं में *उपनयन* संस्कार का काफी महत्व था। इसमें बालक को 9 वर्ष की आयु में पवित्र धागे पहनाये जाते थे।

वैवाहिक अनुष्ठान लगभग आज प्रचलित पद्धति की ही तरह थे। हिन्दू विवाह का आरंभ *तिलक* और *मंगनी* से होता था। तत्पश्चात् *लगन* (विवाह की तारीख) की तिथि निर्धारित की जाती थी। गाना-बजाना होता था और विवाह के विस्तृत अनुष्ठान और समारोह होते थे।

मृत्यु के बाद भी काफी अनुष्ठान और कर्मकाण्ड होते थे। पुजारी मंत्र पढ़ते थे, दान दिये जाते थे और एक साल के बाद *श्राद्ध* होता था। मुसलमानों में मृत्यु के तीसरे दिन *सियुम* नामक अनुष्ठान प्रचलित था।

कुलीन और बड़े व्यापारी विवाह के अवसर पर काफी खर्च करते थे। खेमचन्द नामक व्यापारी ने अपनी पुत्री के विवाह के लिए 15 लाख रुपये खर्च करने की योजना बनाई थी, परन्तु रास्ते में लूट लिया गया। दारा शिकोह के विवाह पर लगभग 32 लाख रुपये खर्च किए गए थे। 17वीं शताब्दी में सिंध आये एक यात्री बोक्कारो के अनुसार एक आम विवाह पर लगभग 4-5 हजार रुपये खर्च होते थे। अपने परिवार में एक विवाह के अवसर पर राजा भगवान दास ने कई घोड़े, 100 हाथी, भारत, अबीसीनिया और कॉकेशिया के लड़के-लड़कियाँ, विभिन्न प्रकार के रत्न जड़ित गहने, बर्तन, आदि दिए।

शिक्षा

शिक्षा की सुविधाएँ आम स्त्रियों की पहुँच से बाहर थीं। उच्च वंश की महिलाओं को शिक्षा की पूर्ण सुविधाएँ थीं। राजकुमारियों के लिए भी शिक्षा की व्यवस्था की जाती थी। अकबर ने भी स्त्रियों की शिक्षा में रुचि ली। बदायूनी लिखता है कि उसने एक नया पाठ्यक्रम निर्धारित किया था। उसने फतेहपुर सीकरी में लड़कियों के लिए एक स्कूल की स्थापना की। शाही परिवार की कुछ महिलाओं ने भी लड़कियों की शिक्षा में विशेष रुचि दिखाई। हुमायूँ की पत्नी बेगा बेगम ने हुमायूँ के मकबरे के पास लड़कियों के लिए एक विद्यालय की स्थापना की। अकबर की धाय माँ माहम अनगा ने भी दिल्ली में एक स्कूल बनवाया। हुमायूँ की बहन गुलबदन बानू बेगम फारसी और तुर्की का अच्छा ज्ञान रखती थीं। उन्होंने *हुमायूँनामा* नामक ग्रंथ की रचना की। इसी प्रकार नूरजहाँ (जहाँगीर की पत्नी), जहाँआरा (शाहजहाँ की पुत्री), तथा ज़ेबुननिसा (औरंगजेब की पुत्री) अपने काल की साहित्य रुचि वाली महिलाएँ थीं। औरंगज़ेब ने अपनी सभी पुत्रियों की अच्छी शिक्षा की व्यवस्था की। नृत्य और संगीत को पंसद नहीं किया जाता था। नूरजहाँ और जहाँआरा राजनीति में सक्रिय भूमिका निभाती थीं। अनेक कुलीन *मनसबदार* फारसी के ज्ञाता थे। कुछ गणित और चिकित्सा विज्ञान की जानकारी रखते थे और कुछ लेखन कला में भी रुचि रखते थे। मुगल काल के अनेक कुलीनों के पास अपने व्यक्तिगत ग्रंथालय थे। अब्दुल रहीम खान खानान के पास अपना एक बड़ा ग्रन्थालय था जिसमें लगभग 95 सुलेखक, शिल्पी, चित्रकार, जिल्दसाज और पाण्डुलिपियों की सजावट करने वाले थे।

बाबर स्वयं तुर्की भाषा का महान् विद्वान था। उसकी पुस्तक *बाबरनामा* को तुर्की गद्य की एक उत्कृष्ट कृति माना जाता है। वह फारसी का भी ज्ञाता और एक कुशल सुलेखक था। हुमायूँ और उसके बाद के लगभग सभी मुगल सम्राट फारसी के अच्छे ज्ञाता थे। हालांकि, अकबर, परिस्थितियों के कारण, औपचारिक शिक्षा नहीं प्राप्त कर पाया परन्तु उसने अनेक कवियों, लेखकों, दार्शनिकों, चित्रकारों तथा चिकित्सकों, आदि को संरक्षण प्रदान किया।

बोध प्रश्न-3

1) अपने काल की सामाजिक कुरीतियों के प्रति अकबर के दृष्टिकोण की चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

2) मुगल राजकुमारियों की शिक्षा की स्थिति पर टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

16.6.3 मनोरंजन और आमोद-प्रमोद

जुआ खेलना, हाथियों की लड़ाई, *चौपड़*, *चंडाल मंडल*, शतरंज, ताश, पोलो, आदि ऐसे प्रमुख खेल थे जिनमें उच्च वर्ग के लोग रुचि लेते थे। हिन्दुओं और विशेषकर राजपूतों में *चौपड़* का खेल बहुत लोकप्रिय था। अकबर ने *चौपड़* के मोहरों के स्थान पर व्यक्तियों का प्रयोग करना शुरू किया और *चौपड़* एक अत्यंत रोचक खेल *चंडाल मंडल* के रूप में विकसित हुआ।

ताशों का खेल (*गंजीफा*) संभवतः भारत में पहली बार बाबर द्वारा लाया गया था। अकबर के काल में यह काफी लोकप्रिय हो गया। जुआ खेलना आम प्रचलन में था। *कबूतरबाज़ी* और मुर्गों की

लड़ाई, आदि खेल भी काफी प्रचलित थे। अकबर स्वयं अपने पक्षियों को दाना देता था और उसने कबतूर उड़ाने के खेल को *इश्क बाजी* (प्रेम का खेल) का नाम दिया।

शिकार खेलना शाही घराने का एक प्रिय शौक था। मुगल *कमरगाह* शिकार का आयोजन करते थे। इसमें एक संख्या में सवारों द्वारा (कभी-कभी लगभग 50,000 घुड़सवार) एक बड़े क्षेत्र से जानवरों को हुँकार कर शाही शिकारगाह में लाया जाता था। इस हाँके द्वारा धीरे-धीरे एक घेरे में जानवरों को लाया जाता था। तत्पश्चात् सम्राट और प्रमुख कुलीन घेरे के जानवरों का शिकार करते थे। हिरन, बकरियाँ, हाथी, आदि भी शिकार के लिए पाले जाते थे। चीतों को हिरन का शिकार करने के लिए पाला और प्रशिक्षित किया जाता था। उत्तर तथा मध्य भारत के बहुत से क्षेत्रों में शाही शिकारगाहें स्थापित की गई थीं जो शाही परिवार के सदस्यों के शिकार खेलने के लिए सुरक्षित रहती थीं। चीता, शेर और हाथियों का शिकार करना शाही परिवार का विशेषाधिकार था।

साधारणतः शाही परिवार की महिलाएँ महल के बाहर के खेलों में भाग नहीं लेती थीं। परन्तु कुछ पोलो खेलती थीं। केवल नूरजहाँ ही शेर और बाघों के शिकार के लिए जाती थीं। *कबूतरबाज़ी* तथा *आँखमिचोली* ही इनके प्रिय खेल थे।

उत्सव और मेले

धार्मिक उत्सव तथा तीर्थस्थलों और मज़ारों की यात्रा मन बहलाने के प्रमुख साधन थे। सूफी संतों की मज़ारों पर बड़े पैमाने पर *उर्स* (वार्षिक उत्सव) मनाये जाते थे। दिल्ली में शेख निज़ामुद्दीन औलिया और शेख बख्तियार काकी की मज़ारों पर बड़े *उर्स* होते थे। दिल्ली में हज़रत नासिरउद्दीन चिराग दिल्ली (ह. निज़ामउद्दीन औलिया के उत्तराधिकारी) की मज़ार पर, विशेषकर दीपावली के महीने में, प्रत्येक इतवार को बड़ी संख्या में हिन्दू और मुसलमान एकत्रित होते थे।

ईद-उल फितर, ईद-उल ज़ुहा, नौरोज़ (ईरानी नव वर्ष), *शबबरात, होली, दशहरा, दीपावली, रक्षा बंधन, बसंत पंचमी*, आदि प्रमुख त्यौहार काफी धूम-धाम से मनाये जाते थे।

मेलों का भी आयोजन होता था। गढ़मुक्तेश्वर का प्रसिद्ध मेला, जो आज भी लगता है, मध्य काल में ही शुरू हुआ था। दशहरे का त्यौहार क्षत्रिय तथा अनेक खेतिहर समुदायों में काफी लोकप्रिय था। गंगा के किनारे लगने वाला कुंभ मेला सर्वाधिक लोकप्रिय था। *मुहर्रम* के अवसर पर शहर की सड़कों से *ताज़ियों* (*करबला* के शहीदों की मज़ारों की अनुकृतियाँ) की शोभायात्रा निकाली जाती थी।

संगीत

बड़े अमीर अपने भवनों और हवेलियों में *मुशायरों* का आयोजन करते थे। जहाँ कवि अपनी रचनाओं का पठन करते और साहित्यिक चर्चा करते थे। संगीतकार और गायक जनान-खाने में सम्राट और महिलाओं के मनोरंजन के लिए अपनी कला का प्रदर्शन करते थे। कविन्द्र, चित्र खाँ, लाल खाँ तथा श्रीमन् शाहजहाँ के प्रिय संगीतकार थे। शाहजहाँ के एक अमीर शाहनवाज़ खाँ ने भी बड़ी संख्या में संगीतकारों को संरक्षण प्रदान किया। सम्राट मुहम्मद शाह भी बड़ा संगीत प्रेमी था। उसके काल में बोली खाँ, जल्लाह, चमनी और कमल बाई प्रसिद्ध संगीतकार थे। नियामत खाँ एक कुशल बांसुरी वादक और *ख्याल* शैली का गायक था। उसकी शिष्या पन्ना बाई एक अत्यंत सुरीली आवाज वाली गायिका थी। ताज खाँ कव्वाल तथा मुईनद्दीन कुशल कव्वाली गायक और मुहम्मद शाह के काल के प्रसिद्ध संगीतकार थे।

ख्वाजासरा (eunuchs) सार्वजनिक नृत्यों में भाग लेते थे। मियाँ हैगा नामक *ख्वाजासरा* शाहजहाँनाबाद के किले के सामने उर्दू बाजार के चौक में नृत्य का प्रदर्शन करता था। उसे देखने के लिए काफी भीड़ लग जाती थी। आसा पुरा नाम की एक हिन्दू नर्तकी भी काफी प्रसिद्ध थी।

भाटों और चारणों द्वारा *आल्हा खंड* और *नल-दमयन्ती* का गायन किया जाता था। *हिन्डोलों* और *श्रावनी* जैसे *श्रावण* गान भी लोकप्रिय थे। पश्चिमी तटों के क्षेत्र में गुजराती *नृत्य गर्भा* काफी लोकप्रिय था। कठपुतलियों का तमाशा, बंदरों के खेल, सांपों का प्रदर्शन, नटों के कर्तब आम जनता के प्रिय मनोरंजन थे।

बड़े लोगों के घरों में नृत्य और भोजों के बड़े *जश्न* (समारोह) आयोजित किए जाते थे। हुमायूँ ने यमुना नदी के तट पर पिकनिक मनाने के आयोजन शुरू किये। उसने शाही परिवार की

महिलाओं के लिए *मीना बाजार* आयोजित करने की परंपरा भी शुरू की जो उसके बाद के सम्राटों के काल में और भी समृद्ध और विकसित हुए।

मद्यपान सामान्य प्रचलन में था। अकबर का मानना था कि सीमित मात्रा में शराब का सेवन स्वास्थ्य के लिए अच्छा है। अफीम का सेवन भी आम था। भाँग एक अन्य नशीला पदार्थ था जिसका सेवन होता था।

16वीं शताब्दी में तम्बाकू के प्रयोग की जानकारी नहीं थी। 17वीं शताब्दी में जब भारत में तम्बाकू का प्रचलन हुआ तो इसका प्रयोग तेजी से फैल गया।

बोध प्रश्न-4

1) निम्न को परिभाषित कीजिए;

इश्क बाज़ी .....

.....

चन्डाल-मंडल .....

.....

कमरगाह शिकार .....

.....

2) *उर्स* के उत्सवों पर टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

16.7 सारांश

मध्यकाल में शहरी केन्द्र और शहरी जीवन विकसित अवस्था में थे। भारत में नगर, शहर और ग्रामीण क्षेत्रों का एक अच्छा मिश्रण थे। इसका स्पष्ट कारण यह था कि अधिकांश शहर वास्तव में गाँव का विस्तार ही थे। शहरी जनसंख्या मिली-जुली प्रकार की थी। जीवन स्तर में भी विषमताएँ थीं। जहाँ एक ओर शाही परिवार और उच्च कुलीन वर्ग विलासिता और वैभव का जीवन व्यतीत करते थे, वहीं दूसरी ओर शहरी गरीब अत्यंत दरिद्रता का जीवन गुजारते थे। लेकिन ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि मुगलकालीन शहरों के मजदूर और कार्मिक वर्ग की खाद्य पदार्थ खरीदने की क्षमता 19वीं शताब्दी के अपने समकक्ष वर्गों की तुलना में, अधिक थी। इस मानदंड के आधार पर मुगलकालीन शहरी कार्मिक वर्ग 19वीं शताब्दी के ऐसे वर्ग की तुलना में कुछ बेहतर दिखाई देता है।

मुगलकाल में कई सामाजिक कुरीतियाँ जैसे *सती* प्रथा, *पर्दा*, *जौहर*, शिशु बलि, बाल विवाह, आदि प्रथाएँ प्रचलन में थीं। अकबर ने कुछ सुधार लागू किये। उसने जबरदस्ती *सती* होने की प्रथा पर रोक लगाई। शिक्षा की सुविधा अधिकांश स्त्रियों की पहुँच से बाहर थी। शाही परिवार की महिलाओं के लिए औपचारिक शिक्षा की व्यवस्था थी। मनोरंजन और क्रीड़ा के क्षेत्र में मुगल सम्राटों ने कुछ मौलिक योगदान किया। कुछ नये खेलों का प्रचलन किया (ताश, आदि) तथा कुछ खेलों में किंचित परिवर्तन किये (*चौपड़*, आदि)। धार्मिक त्यौहार और मेलों का आयोजन आज की ही भाँति काफी धूमधाम से किया जाता था। आजकल प्रचलित बहुत से मेलों का प्रारंभ वस्तुतः मुगल काल में हुआ था।

16.8 शब्दावली

जौहर सम्मानजनक आत्मदाह; मध्यकाल में युद्ध के मैदान में अपने पति/शासकों की आसन्त हार और अपेक्षित मृत्यु के मद्देनज़र विजयी दुश्मनों द्वारा अपेक्षित अपमान से खुद को बचाने के लिए सामूहिक आत्मदाह की प्रथा

कारखाना शाब्दिक अर्थः फैक्ट्री/कारखाना; मध्यकाल के *कारखाने* आवश्यक रूप

से उत्पादन केंद्र नहीं थे। *कारखाने* दो प्रकार के होते थेः क) उत्पादन केंद्र जहाँ आधुनिक *कारखानों* की भाँति वास्तविक उत्पादन होता था; ख) गोदाम/भंडार जहाँ शाही उपभोग की वस्तुएँ संग्रहित की जाती थीं। वे मुख्य रूप से विलासिता की वस्तुओं और युद्ध सामग्रियों के रूप में शाही और सैन्य आवश्यकताओं संबंधी शासक की माँग को पूरा करते थे

सर्राफ मुद्रा परिवर्तक

16.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) विभिन्न प्रकार के नगरों के उत्थान के कारणों की विवेचना कीजिए। देखें भाग 16.2

2) देखें भाग 16.3

3) देखें भाग 16.3

2) a ✓) b) ✓ c) ×

बोध प्रश्न-2

1) तुलना कीजिए कि क्या मध्यकालीन कार्मिकों की स्थिति बेहतर थी। देखें उप-भाग 16.6.1

2) देखें उप-भाग 16.6.1

बोध प्रश्न-3

1) समकालीन सामाजिक बुराइयों की ओर अकबर की संवदेनशीलता की चर्चा कीजिए। अकबर ने हिन्दू तथा मुसलमानों की कुप्रथाओं को सुधारने के प्रयास किये। देखें उप-भाग 16.6.2

2) देखें उप-भाग 16.6.2

बोध प्रश्न-4

1) मनोरंजन तथा आनन्दोत्सव भाग पढ़ें। देखें उप-भाग 16.6.3

2) त्यौहार और मेले भाग पढ़ें। देखें उप-भाग 16.6.3

16.10 संदर्भ ग्रंथ

बंगा, इंदू, (2005) *द सिटी इन इंडियन हिस्ट्री* (नई दिल्लीः मनोहर).

मूसवी, शीरीन, (1987) *इकॉनामी ऑफ द मुगल एम्पायर c.1600* (नई दिल्लीः ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस).

रेचौधरी, तपन और इरफान हबीब, (1982) *द कैम्ब्रिज इकॉनामिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया*, भाग 1 (दिल्लीः कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय प्रेस).

शर्मा, योगेश एवं पायस मालेकंदाथिल, (2014) (संपा.) *सिटीज़ इन मिडिवल इंडिया* (नई दिल्लीः प्राइमस बुक्स).

16.11 शैक्षणिक वीडियो

मॉरफोलॉजी ऑफ द मुगल सिटीज़ः आगरा एंड दिल्ली
https://www.youtube.com/watch?v=aLBVnOErC8E
मॉरफोलॉजी ऑफ सिटीज़
https://www.youtube.com/watch?v=PGIchFhIQXE
अर्बन इकॉनॉमी इन मुगल इंडिया
http://www.youtube.com/watch?v=Foza H_2L_6BOI